तत्त्वज्ञान तरंगिणी

अनुक्रमणिका

शुद्ध-चिद्रूप का लक्षण

01-01) मंगलाचरण
01-01) शुद्ध चिद्रूप का लक्षण
01-04) शुद्ध-चिद्रूप के ग्रहण की विधि
01-04) संयोग और संयोगी भावों से भिन्न अपना स्वरूप
01-08) शुद्ध चिद्रूप का वाच्य
01-08) निरंतर शुद्ध चिद्रूप के स्मरण का कारण
01-10) शुद्ध चित् रूप की उत्तमता
01-10) आत्मा का निश्चय करने की विधि
01-12-13) 'शुद्ध चित् रूप' - इन छह वर्णों का अर्थ
01-12-13) चिदानन्द रूप को अन्य द्रव्य अप्रयोजनीय
01-15) चिदानन्द का स्वरूप नास्ति-अस्तिरूप में
01-15) शुद्ध-चिद्रूप के प्राप्ति की अपात्रता और पात्रता
01-17) चिदानंद स्वरूप का अनन्त धर्मात्मक स्वभाव
01-17) शुद्ध-चिद्रूप के सदा अपने मन में विद्यमान रहने की भावना
01-19) शुद्ध चिद्रूप-रत्न की प्राप्ति से पूर्ण तृप्तता
01-19) शुद्ध चित् रूप को धारण करने की पात्रता

ध्यान में उत्साह

02-01) शुद्धात्मा के स्मरण-बिना मोक्ष नहीं
02-01) चित् रूप के स्मरण की विशेषता
02-03) शुद्ध चित् रूप की भावना से सभी दु:ख समाप्त
02-03) चिद्रूप के ध्यान से सुख
02-05) चिद्रूप के ध्यान से प्रगट सुख की महिमा
02-05) 'शुद्ध चित् रूप मैं हूँ' इस स्मरण के लाभ
02-08) शुद्ध चित् रूप के स्मरण का फल
02-08) ध्यानों में शुद्धात्मा का ध्यान सर्वोत्तम
02-10) शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति से ही जीव को संतुष्टि
02-10) सम्यग्ज्ञानिओं द्वारा प्रशंसनीय
02-12) शुद्ध चित् रूप के चिन्तन की महिमा
02-12) शुद्ध चित् रूप का स्मरण सदा करने की प्रेरणा
02-14-15) इसका स्मरण ही सर्वोत्कृष्ट स्मरण
02-14-15) मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र उपाय
02-17) सम्पूर्ण जिनागम के एक मात्र उपादेय
02-17) शुद्ध चिद्रूप के सत् ध्यान का फल
02-20) इन लाभों की ज्ञानिओं से पुष्टि
02-20) शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण की अतुलनीयता
02-22) शुद्ध-चित्-रूप में स्थिरता का माहात्म्य
02-22) उदाहरण द्वारा उपादान-उपादेय संबंध
02-24) एक मात्र शुद्ध चिद्रूप में मग्नता ही कर्तव्य
02-24) शरीर को पूज्य बनाने का उपाय

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति

03-01) शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति के साधन
03-01) देवादि को पूजने का कारण
03-03) किन्हें ग्रहण करना और किनका त्याग करना

03-03) किसी भी कार्य की थोड़ी-सी भी चिन्ता के दुष्परिणाम
03-08) अभव्य को इस शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं होता
03-08) दूर-भव्य की भी इसमें रुचि नहीं होती
03-10) भेद-ज्ञान के बिना शुद्ध चित् रूप का ज्ञान सम्भव नहीं
03-10) निर्ममत्व के बिना शुद्ध चिद्रूप का सद्ध्यान सम्भव नहीं
03-12) ध्यान के कारण
03-12) ज्ञानी की प्रवृत्ति
03-14) तत्त्व-विदों में श्रेष्ठ का लक्षण
03-14) क्या मिलने पर क्या अच्छा नहीं लगता
03-16) स्व-स्वरूप में काल व्यतीत करनेवाले विरले
03-16) एक मात्र सदा उपयोग में रहना ही कर्तव्य
03-18) क्रियाओं के संबंध में स्याद्वाद शैली
03-18) उदाहरण पूर्वक शुद्ध चिद्रूप के स्मरण की विधि
03-20) आत्मा की प्राप्ति का उपाय
03-20) शुद्ध-चित्-रूप के इच्छुक की विचार-धारा
03-22) अति संक्षेप में मोक्ष के कारण
03-22) उदाहरण द्वारा शुद्ध चिद्रूप की वार्ता के अलाभ-लाभ
03-25) शुद्ध-चित्-रूप प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय -- ध्यान

प्राप्ति की सरलता

04-01) शुद्ध चिद्रूप के स्मरण में आदर क्यों नहीं
04-02-03) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति अत्यधिक सुगम
04-02-03) आत्मा का निश्चय करने की पद्धति
04-06-07) शुद्ध चिद्रूप-प्राप्ति में कारणभूत स्याद्वाद-शैली
04-06-07) शुद्ध चिद्रूप के पर्याय-वाची
04-09) शुद्ध-चिद्रूप ही ग्राह्य
04-09) इसमें ही लीनता का हेतु
04-11) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है -- यह तथ्य अनुभव से सिद्ध
04-11) कहाँ रहने का क्या फल है?
04-13) अनन्त बल-शालिता की भी अनुभव-गोचरता
04-13) आत्मा कर्म से आच्छादित
04-16) सर्वाधिक सरल और सर्वोत्तम फलदाइ कार्य
04-16) इस कार्य को नहीं करनेवालों के लिए उलाहना
04-19) किसका क्या फल है?
04-19) रागादि नष्ट हुए बिना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं
04-21) शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन का फल
04-21) उदाहरण पूर्वक कारण के अनुसार कार्य
04-23) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति किसे होती है?

पूर्व में प्राप्ति न होना

05-01) पहले क्या-क्या किया और क्या-क्या नहीं किया?
05-02) उपर्युक्त कार्य नहीं कर पाने का कारण
05-02) मरण-काल में भी इसका स्मरण नहीं किया
05-04) इस शुद्ध-चिद्रूप को आज तक प्राप्त नहीं किया
05-04) इसी अप्राप्ति पर पुन: खेद
05-07) मोह-शत्रु को आज तक नहीं जीता
05-07) शुद्ध चिद्रूप की अस्वीकृति
05-11) शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-बिना मैंने क्या-क्या धारण किया
05-11) सभी पर्यायों को धारण कर भी इस शुद्ध-चिद्रूप को नहीं जाना
05-13) पुन: खेदित चित्त से इसे ही व्यक्त करते हैं
05-13) मैं कहाँ-कहाँ बैठा? पर कहाँ नहीं बैठ पाया?
05-16) शुद्ध स्वरूप को नहीं जानने के कारण मैंने क्या-क्या किया?
05-16) इसे बतानेवाले गुरु भी नहीं मिले
05-19) मैंने अभी तक क्या किया?

05-19) शुद्धात्मा का चिन्तन भी मैंने पहले नहीं किया
05-21) पूर्व कृत सभी कार्य अब मुझे कैसे लग रहे हैं?
05-21) ऐसा क्यों हुआ

स्मरण करने की निश्चलता

06-01) अन्य मुझे कैसा देखते हैं और मैं कैसा हूँ
06-01) भेद-विज्ञानी को जगत कैसा लगने लगता है?
06-03) शुद्ध-चिद्रूप की उदाहरण द्वारा स्पष्टीकारण
06-03) शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के समय सभी प्रसंग अप्रभावी
06-05) मुझे शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण सतत रहो
06-05) अपनी परिणति का विश्लेषण
06-08) इसे ही प्रति-समय नमन करने का कारण
06-08) शेष सब क्षणिक; अत: ध्रुव चिद्रूप का ही स्मरण करो;
06-10) करने-योग्य कार्य क्या है?
06-10) सम्पूर्ण जिनागम का सार
06-12) 'स्वस्थ' की परिभाषा
06-12) इस संबंध में अपनी भावना
06-15) यथार्थ मुनिराजों की परिणति
06-15) मुनिराजों की दृढ़ परिणति का कारण
06-17) सभी प्रसंगों में अपनी चिद्रूप-भावना
06-17) अपनी अनादि-कालीन प्रवृत्ति और उसके फल पर खेद
06-19) दृढ़ता पूर्वक मोक्ष-प्राप्ति के उपाय
06-19) भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष का उपाय

नयों का आश्रय

07-01) व्यवहार-नय के अवलम्बन की मर्यादा
07-01) व्यवहार और निश्चय-नय का विषय
07-03) चिद्रूप में विशुद्धि प्रगट होने की प्रक्रिया
07-03) उदाहरण पूर्वक मोक्ष और स्वर्ग के मार्ग की पृथक्ता
07-05) व्यवहार को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करने की आज्ञा
07-05) अपनी भावना
07-08) व्यवहार पूर्वक निश्चय का फल
07-08) नय की अपेक्षा चिद्रूप का प्रतिपादन
07-10-11) नय-विवक्षा
07-10-11) चिद्रूप के शुद्ध होने का क्रम
07-13-14) व्यवहार के अवलम्बन की मर्यादा
07-13-14) व्यवहार के आश्रय का अन्य कारण
07-16) व्यवहार-निश्चय की मैत्री
07-16) निश्चय, व्यवहार की विधि
07-19) मात्र एक नय के अवलम्बन का फल
07-19) इस संबंध में स्याद्वादिओं का मत
07-21) इस संबंध में जैनी की प्रवृत्ति
07-21) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में नयों की भूमिका

भेद-ज्ञान की आवश्यकता

08-01) चिद्रूप को प्राप्त करने की पात्रता
08-01) आत्मा-शरीर के पृथक्-करण का उदाहरण
08-03) पर को छोड़कर चिद्रूप की भावना
08-03) दु:ख नष्ट करने का उपाय
08-05) आत्म-ध्यान ही सब कुछ
08-05) मोही और निर्मोही की रुचि
08-07) भेद-विज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का अभाव
08-07) उत्तरोत्तर दुर्लभता का प्रतिपादन
08-10) भेद-ज्ञान की परिभाषा

08-10) भेद-ज्ञान के बिना शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं
08-12) भेद-विज्ञान से सभी कर्मों समाप्त
08-12) भेद-ज्ञान की भावना
08-14) भेद-ज्ञान का फल
08-14) भेद-ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं हुआ
08-16) पुन: भेद-ज्ञान का फल
08-16) भेद-ज्ञान को अद्वितीय दीपक की उपमा
08-18) भेद-ज्ञानरूपी नेत्र की महिमा
08-18) आत्मा-शरीर के पृथक्-पृथक् ज्ञान का उदाहरण
08-21) उदाहरण द्वारा भेद-ज्ञान के फल

मोह-त्याग

09-01) मोह की परिभाक्षा
09-04) मोह और अपने स्वरूप का वर्णन
09-04) मोह को जीतने का उपाय
09-07) निश्चिंत होकर आत्म-चिंतन करने-हेतु प्रेरणा
09-07) शरीर के प्रति मध्यस्थ भाव
09-09) अज्ञानी और ज्ञानी द्वारा कार्य करने का प्रयोजन
09-09) ज्ञानी और अज्ञानी की विचार-धारा
09-11) बद्ध-अबद्ध की अपेक्षा
09-11) प्रयत्न पूर्वक अन्य कार्यों से उपयोग को हटाने-हेतु प्रेरणा
09-13) आत्माराधक पुरुष को मन में धारण करें
09-13) शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण नहीं करने में अपना नुकसान
09-15) आत्म-चिन्तन और मोह का फल
09-15) शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलता की अयोग्यता क्यों?
09-17) आत्म-ध्यान के उपदेश की निष्फलता का उदाहरण
09-17) मूढ़ जीवों की प्रवृत्ति
09-19) जीव के वास्तविक शत्रु
09-19) भव-कूप से निकलने का उपाय
09-21) जीव का शत्रु मोह कहने में हेतु
09-21) आत्म-ध्यान करने की प्रेरणा

अहंकार-ममकार का त्याग

10-01) आत्मा को नहीं देख पाने का कारण
10-01) अहंकार
10-04) आत्मा की प्राप्ति निरहंकारी को
10-04) स्वरूप-उपलब्धि का उत्कृष्ट कारण
10-07) स्वरूप-प्राप्ति की अपात्रता
10-07) ममत्व
10-10) स्वरूप-प्राप्ति-हेतु निर्ममत्व भाव ही कर्तव्य
10-10) निर्ममत्व-चिंतन
10-13) बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप
10-13) निर्ममत्व-चिंतन-हेतु प्रेरणा
10-19) फल बताकर इसकी पुष्टि
10-19) उपलब्धि बताकर इसी निर्ममत्व की प्रेरणा
10-21) स्वरूप-प्राप्ति की पात्रता

रुचिवान की विरलता

11-01) शुद्ध-चिद्रूप की रुचिवालों की विरलता
11-07) चिद्रूप में लीन व्यक्ति विरलों में भी विरल
11-07) इसकी गुणों की अपेक्षा पुष्टि
11-10-11) शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की पात्रता
11-10-11) मनुष्य-लोक से बाहर इसकी दुर्लभता
11-13) अन्य क्षेत्रों में भी इसकी दुर्लभता

11-13) योग्यता के अभाववाले मनुष्य-लोक का प्ररूपण
11-15) आर्य-खण्ड में भी उस प्रकार की योग्यतावाले विरल
11-15) धार्मिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर विरलता
11-18) स्वरूप-साधक ही सर्वोत्तम
11-18) उसी विरलता की पुष्टि
11-20-21) विरलता गुणस्थान की अपेक्षा
11-20-21) आत्माराधकों की दुर्लभता

एक मात्र उपाय

12-01) रत्नत्रय से ही स्वरूप की उपलब्धि
12-01) उदाहरण द्वारा पुष्टि
12-04) रत्नत्रय की परिभाषा
12-04) रत्नत्रय के भेद और प्रगटता का क्रम
12-06) व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण, अंग और भेद
12-06) सम्यग्दर्शन का स्वरूप
12-08) निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप
12-08) अष्टांग सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा
12-11-12) सम्यग्ज्ञान की परिभाषा
12-11-12) परम-ज्ञान की परिभाषा
12-14) व्यवहार-चारित्र की परिभाषा
12-14) उत्तम-चारित्र की पात्रता
12-17) सम्यक्चारित्र की विशेषता
12-17) परम चारित्र की परिभाषा
12-19) निश्चय चारित्र का अस्ति-नास्ति परक स्वरूप
12-19) व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय का संबंध
12-21) रत्नत्रय का महत्त्व

विशुद्धि की आवश्यकता

13-01) विशुद्धता सर्वत्र प्रशंसनीय है
13-02) अशुद्धता और विशुद्धता की परिभाषा
13-02) मुमुक्षु को मार्ग-दर्शन
13-04) शुद्धि के साधन
13-04) मोक्षमार्ग के स्मरण-हेतु प्रेरणा
13-06) विशुद्धता-प्राप्ति की पात्रता
13-06) गृहस्थों को आत्मोपलब्धि की दुर्लभता
13-08) विशुद्धि के लिए हेय का प्ररूपण
13-08) आत्मोपलब्धि की महानता
13-11) किस चिंतन का क्या फल
13-11) शुद्ध-चिद्रूप की असमर्थता पर अन्य कार्य
13-13) सदा सुखी रहने का उपाय
13-13) संकलेश और विशुद्धि द्वारा विभिन्न कर्म बंध
13-15) विशुद्धि-संक्लेश का कार्य
13-15) वास्तविक अमृत
13-17) विशुद्धि-सेवन में रत के निवास-स्थान
13-17) विशुद्धि और चित्स्वरूप में स्थिति का संबंध
13-19-20) विशुद्धि को प्रगट करने की प्रेरणा
13-19-20) विशुद्धता पाने की पात्रता
13-22) विशुद्धि का आश्रय लेने की प्रेरणा

शुद्ध-चिद्रूप-स्मरण

14-01) बुद्धिमानों की परिणति
14-02) आत्माराधक को ही मोक्ष प्राप्ति
14-02) सोदाहरण स्वरूप-स्थिरता-हेतु प्रेरणा
14-04-07) स्वरूप-स्थिरता का फल

14-04-07) चिद्रूप के चिन्तन से सभी पाप नष्ट
14-09) चिद्रूप-ध्यान का फल
14-09) मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता
14-12) शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग का लाभ
14-12) इसका ही पुन: फल
14-19-20) अप्रतिहत भाव से आत्माराधना की प्रेरणा
14-19-20) ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति

पर-द्रव्य-त्याग
15-01) आत्माराधना-हेतु त्याग की प्रेरणा
15-01) मोह का फल
15-03) आत्म-हित-हेतु स्वयं को संबोधन
15-03) तीव्र मोह का फल
15-05) अज्ञानी की विपरीत मान्यता
15-05) हितकारी मार्ग-दर्शन
15-08) सहेतुक स्पष्टीकरण
15-08) संसार मात्र का त्याग करने की प्रेरणा
15-11) सहेतुक शोक-त्याग की प्रेरणा
15-11) राग की व्यर्थता
15-13) तत्त्वावलम्बी की प्रवृत्ति
15-13) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति बिना कृतकृत्यता नहीं
15-15) मोक्ष-प्राप्ति का उपाय
15-15) बंध और मोक्ष के कारण
15-18) मुक्ति
15-18) पर-द्रव्य के त्याग की प्रेरणा
15-20) मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता

एकांत-स्थान का महत्त्व
16-01) निर्जन-स्थान किस-किस का साधन है
16-02) शिवार्थी के लिए जन-सम्पर्क व्यर्थ
16-02) जन-सम्पर्क आकुलता-वृद्धि का कारण
16-05) एकान्त-वास का औचित्य
16-05) विविक्त शैय्यासन तप
16-07) मूर्छा
16-07) मुक्ति-हेतु ध्यान के कारण
16-09) विकल्पों को नष्ट करने का बाह्य उपाय
16-09) विकल्पों की दु:खमयता
16-11) सुखी होने का उपाय
16-11) अज्ञानी और ज्ञानी की मान्यता
16-13) मुमुक्षु-हेतु कुछ मार्ग-दर्शन
16-13) एकान्त स्थान में रहनेवाले आत्माराधकों का गुण-गान
16-15) ज्ञानियों की प्रवृत्ति
16-15) एकान्त स्थान ही वास्तविक अमृत है;
16-17) आत्माराधना के योग्य स्थान

प्रीति-वर्धक
17-01) अतीन्द्रिय सुख के परीक्षक और अनुरागी अल्प
17-02) अतीन्द्रिय और इन्द्रिय सुख का स्वरूप
17-02) एकान्त स्थान में रहने-हेतु प्रेरित
17-04) यथार्थ सुख का निरूपण
17-04) इन्द्रिय-सुख की सुलभता
17-08) सिद्ध और संसारी के ज्ञान के अन्तर
17-08) अब अपनी इच्छा
17-11) राग से दु:ख और विराग से सुख

17-11) चिदात्मा की महिमा
17-13) शान्ति को प्राप्त करने के साधन
17-13) शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के साधन
17-15) अन्य के त्याग में सुख की सतर्क सिद्धी
17-15) यथार्थ सुख
17-18-19) इन्द्रिय-सुख को सुख मानना भ्रम
17-18-19) निराकुल सुख पाने की पात्रता

प्राप्ति का क्रम

18-01) शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का क्रम
18-01) उपदेश का क्रम
18-04) मोक्ष-प्राप्ति किसे सरल है?
18-04) कर्माभाव और तात्त्विक सुख युगपत् होता है
18-06-07) योग के आठ अंगों के अभ्यास-हेतु प्रेरणा
18-06-07) भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष के उपाय
18-09) मोक्ष और बंध के कारण
18-09) मरण का नियम
18-11) किसमें मरण कर कहाँ जाते हैं?
18-11) इस समय की आत्माराधना का फल
18-17) सोदाहरण आत्माराधना-हेतु उत्साह
18-17) ग्रन्थकार ग्रन्थ-निर्माण का कारण
18-21) ग्रन्थकार द्वारा गुरु-परम्परा का परिचय
18-21) ग्रंथ के अभ्यास का फल
18-23) ग्रन्थ-निर्माण का काल
18-23) ग्रन्थ के परिमाण

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भट्टारक-ज्ञानभूषण-प्रणीत

श्री

तत्त्वज्ञान-तरंगिणी

मूल संस्कृत गाथा

आभार : अनुवादक पंडित गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ, पद्यानुवाद : बाल ब्रह्मचारिणी कल्पना बहन, सागर

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-तत्त्वज्ञान-तरंगिणी नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य भट्टारक-श्रीज्ञानभूषण-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र तत्त्वज्ञान-तरंगिणी नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर भट्टारक-श्रीज्ञानभूषण-देव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(देव वंदना)

सुध्यान में लवलीन हो जब, घातिया चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिये ।
रविज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥

(शास्त्र वंदना)

स्याद्वाद, नय, षट् द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रमाण का ।
जड़कर्म चेतन बंध का, अरु कर्म के अवसान का ॥

कहकर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है ।
उसके लिये जिनवाणी माँ को, वंदना शत बार है ॥
(गुरु वंदना)
नि:संग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से ॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता ।
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥

मंगलाचरण

प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं सानन्दं जगदुत्तमं ।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थी तस्य लब्धये ॥1॥
सानन्द सर्वोत्तम त्रिजग, चिद्रूप शुद्ध को कर नमन ।
कहता उसी के लक्षणादि, तदर्थी तद्लब्धि हित ॥१॥
अन्वयार्थ : निराकुलतारूप अनुपम आनंद भोगने वाले, समस्त जगत में उत्तम, शुद्ध चेतन्य स्वरूप को नमस्कार कर उसकी प्राप्ति का अभिलाषी, मैं (ग्रन्थकार) उसके लक्षणआदि का प्रतिपादन करता हूँ ।

शुद्ध चिद्रूप का लक्षण

पश्यत्यवैति विश्वं युगपन्नोकर्मकर्मणामणुभिः ।
अखिलैर्मुक्तो योऽसौ विज्ञेयः शुद्धचिद्रूपः ॥2॥
युगपत् सकल जग जानता, है देखता सबसे पृथक् ।
नोकर्म कर्म अणु सभी से, जान शुद्ध चिद्रूप वह ॥२॥
अन्वयार्थ : जो समस्त जगत को एक साथ देखने जानने वाला है, नोकर्म और कर्म के परमाणुओं (वर्गणाओं) से रहित है वही शुद्धचिद्रूप है ।
अर्थात् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥3॥
जो जानता है देखता, युगपत् यथा स्थित सभी ।
द्रव्यों को कहते शुद्ध चिद्रूप, निराकुल वह गुणी भी ॥३॥
अन्वयार्थ : जो पदार्थ जिस रूप से स्थित हैं उन्हें उसी रूप से एक साथ जानने देखनेवाला, आकुलता रहित और समस्त गुणों का भंडार शुद्धचिद्रूप कहा जाता है ।

शुद्ध-चिद्रूप के ग्रहण की विधि

स्पर्शरसगंधवर्णैः शब्दैर्मुक्तो निरंजनः स्वात्मा ।
तेन च खैरग्राह्योऽसावनुभावनागृहीतव्यः ॥4॥
स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द विहीन अंजन रहित निज ।
आतम अगोचर इन्द्रियों से, आत्मभावन से ग्रहण ॥४॥
अन्वयार्थ : यह स्वात्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों से रहित है, निरंजन है । इसलिये किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत न होकर अनुभव से - (स्वानुभव प्रत्यक्ष से) इसका ग्रहण होता है ।

संयोग और संयोगी भावों से भिन्न अपना स्वरूप

सप्तानां धातूनां पिंडो देहो विचेतनो हेयः ।
तन्मध्यस्थोऽवैतीक्षतेऽखिलं यो हि सोहं चित् ॥5॥
आजन्म यदनुभूतं तत्सर्वं यः स्मरन् विजानाति ।
कररेखावत् पश्यति सोऽहं बद्धोऽपि कर्मणाऽत्यंतं ॥6॥
श्रुतमागमात् त्रिलोकत्रिकालजं चेतनेतरं वस्तु ।
यः पश्यति जानाति च सोऽहं चिद्रूपलक्षणो नान्यः ॥7॥
नित सात धातु पिण्ड तन, चेतन रहित है हेय ही ।
तन में रहे सब देखे जाने, मैं यही चिद्रूप ही ॥५॥
जो जन्म से अनुभूत सबको, जानता है याद कर ।
वह गाढ़ कर्मों से बँधा भी, देखता कररेखवत् ॥६॥
सब चित् अचित् वस्तु, त्रिलोक त्रिकाल आगम से सुनीं ।
जो जाने देखे वही मैं, चिद्रूप लक्षण अन्य नहिं ॥७॥

अन्वयार्थ : यह शरीर शुक्र रक्त मज्जा आदि सात धातुओं का समुदाय स्वरूप है। चेतना शक्ति से रहित और त्यागने योग्य है, एवं जो इसके भीतर समस्त पदार्थों को देखने जानने वाला है, वह मैं आ्ात्मा हूँ ॥५॥

जन्म से लेकर मरण तक जो पदार्थ अनुभवे हैं उन सबको स्मरण कर हाथ की रेखाओं के समान जो जानता देखता है वह ज्ञानावरण आदि कर्मों से कड़ी रीति से जकड़ा हुआ भी मैं वास्तव में शुद्ध-चिद्रूप ही हुं ॥६॥

तीन लोक और तीनों कालों में विद्यमान चेतन और जड़ पदार्थों को आगम से श्रवणकर जो देखता जानता है वह चेतन्यरूप लक्षण का धारक मैं स्वात्मा हूं । मुझ सरीखा अन्य कोई नहीं हो सकता ॥७॥

शुद्ध चिद्रूप का वाच्य

शुद्धचिद्रूप इत्युक्त ज्ञेयाः पंचार्हदादयः ।
अन्येऽपि तादृशाः शुद्ध शब्दस्य बहुभेदतः ॥8॥
नित 'शुद्ध चिद्रूप' इस कथन में पंच परमेष्ठी समझ ।
नित शुद्ध के बहु भेद से, तत्सम इतर भी सब समझ ॥८॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप पद से यहां पर अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचों परमेष्ठियों का ग्रहण है तथा इनके समान आन्य शुद्धात्मा भी शुद्धचिद्रूप शब्द से लिये हैं, क्योंकि शुद्ध शब्द के बहुत से भेद हैं ।

निरंतर शुद्ध चिद्रूप के स्मरण का कारण

नो दृक् नो धीर्न वृत्तं न तप इह यतो नैव सौख्यं न शक्ति-
र्नादोषो नो गुणीतो न परमपुरुषः शुद्धचिद्रूपतश्च ।
नोपादेयोप्यहेयो न न पररहितो ध्येयरूपो न पूज्यो
नान्योत्कृष्टश्च तस्मात् प्रतिसमयमहं तत्स्वरूपं स्मरामि ॥9॥
चिद्रूप बिन दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, चारित्र नहीं तप ।
नहिं सौख्य शक्ति नहिं अदोष, न गुण परमपुरु शुद्धयुत ॥
नहिं उपादेय अहेय नहिं, पर पृथक् नहिं ध्येयरूप नहिं ।
नहिं पूज्य नहिं उत्कृष्ट कोई, याद कर चिद्रूप ही ॥९॥

अन्वयार्थ : यह शुद्धचिद्रूप ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र है । तप, सुख, शक्ति और दोषों का अभाव स्वरूप है। गुणवान

और परम पुरुष है। उपादेय (ग्रहण करने योग्य) और अहेय (न त्यागने योग्य) है । पर-परिणति से रहित ध्यान करने योग्य है । पूज्य और सर्वोत्कृष्ट है । किन्तु शुद्ध-चिद्रूप से भिन्न सम्यग्दर्शन आदि कोई पदार्थ नहीं, इसलिये प्रतिसमय मैं उसी का स्मरण, मनन करता हूँ ।

शुद्ध चित् रूप की उत्तमता

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः ।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः ॥10॥
चिद्रूप ज्ञाता दृष्टा भी, है ज्ञेय दृश्य स्वभाव से ।
अतएव सर्वोत्तम यही, इसके समान न अन्य हैं ॥१०॥

अन्वयार्थ : यद्यपि यह चिद्रूप, ज्ञेय-ज्ञान का विषय दृश्य-दर्शन का विषय है। तथापि स्वभाव से ही यह पदार्थों का जानने और देखने वाला है, परन्तु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो झेय और दृश्य होने पर जानने देखने वाला हो, इसलिये यह चिद्रूप समस्त द्रव्यों में उत्तम है ।

आत्मा का निश्चय करने की विधि

स्मृतेः पर्यायाणामवनिजलभृतामिंद्रियार्थागसां च
त्रिकालानां स्वान्योदितवचनततेः शब्दशास्त्रादिकानां ।
सुतीर्थानामस्त्रप्रमुखकृतरुजां क्ष्मारुहाणां गुणानां
विनिश्चेयः स्वात्मा सुविमलमतिभिर्दृष्टबोधस्वरूपः ॥11॥
पर्याय भू जलधि विषय, पंचेन्द्रियों के पाप की ।
त्रैकाल निज पर वचन से, शब्दादि शास्त्रादि सभी ॥
सत्तीर्थ शस्त्रादि गुणों से, रोग पादप स्मृति ।
से समझ निर्मल मति द्वारा, स्वयं ज्ञान दर्शनमयी ॥११॥

अन्वयार्थ : जिनकी बुद्धि विमल है-स्व और पर का विवेक रखनेवाली है, उन्हें चाहिये कि वे दर्शन ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा को बाल, कुमार और युवा आदि अवस्थाओं, क्रोध, मान, माया आदि पर्यायों के स्मरण से, पर्वत और समुद्र के ज्ञान में, रूप रस गंध आदि इन्द्रियों के विषय और अपने अपराधों के स्मरण से, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञान से, अपने पराये वचनों के स्मरण से, व्याकरण न्याय आदि शास्त्रों के मनन ध्यान से, निर्वाणभूमियों के देखने जानने से, शस्त्र आदि से उत्पन्न हुये घावों के ज्ञान से, भांति भांति के वृक्षों की पहिचान से और भिन्न-भिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुणों के ज्ञान से पहिचाने ।

'शुद्ध चित् रूप' - इन छह वर्णों का अर्थ

ज्ञप्त्या दृक् चिदिति ज्ञेया सा रूपं यस्य वर्तते ।
स तथोक्तोऽन्यद्रव्येण मुक्तत्वात् शुद्ध इत्यसौ ॥12॥
कथ्यते स्वर्णवत् तज्ज्ञैः सोहं नान्योस्मि निश्चयात् ।
शुद्धचिद्रूपोऽहमिति षड्वर्णार्थो निरुच्यते ॥13॥
नित ज्ञान दर्शनमयी चित्, चिद्रूप जिसका रूप यह ।
वह अन्य द्रव्यों से पृथक्, इससे कहा नित शुद्ध यह ॥१२॥
कहते सुवर्ण समान ज्ञाता, वही मैं नहिं अन्य हूँ ।
छह वर्ण का यह **अर्थ**, निश्चय से सुसत् चिद्रूप हूँ ॥१३॥

अन्वयार्थ : ज्ञान और दर्शन का नाम चित है। जिसके यह विद्यमान हो वह चिद्रूप-आत्मा कहा जाता है। तथा जिसप्रकार कीट कालिमा आदि अन्य द्रव्यों से रहित स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण कहलाता है, उसी प्रकार जिस समय यह चिद्रूप समस्त पर द्रव्यों से रहित हो जाता है उस समय शुद्ध चिद्रूप कहा जाता है । वही शुद्ध चिद्रूप निश्चय से मैं हूँ -- इस प्रकार 'शुद्धचिद्रूपोअऽम्' इन छह वर्णों का परिष्कृत अर्थ

समझना चाहिये ।

चिदानन्द रूप को अन्य द्रव्य अप्रयोजनीय

दृष्टैर्ज्ञातैः श्रुतैर्वा विहितपरिचितैर्निंदितैः संस्तुतैश्च,
नीतैः संस्कार कोटिं कथमपि विकृतिं नाशनं संभवं वै ।
स्थूलैः सूक्ष्मैरजीवैरसुनिकरयुतैः खाप्रियैः खप्रियैस्तै-
रन्यैर्द्रव्यैर्न साध्यं किमपि मम चिदानंदरूपस्य नित्यं ॥14॥
देखे सुने जाने बहुत, वेदे प्रशंसा निन्द्य से ।
संस्कार संस्कारहीन व्यय, उत्पाद बादर सूक्ष्म से ॥
चेतन अचेतन इन्द्रियों को, बुरे अच्छे अन्य से ।
मुझ चिदानन्द स्वरूप को, कुछ लाभ नहिं इन सभी से ॥१४॥
अन्वयार्थ : मेरा आत्मा चिदानंद स्वरूप है मुझे पर द्रव्यों से चाहे वे देखे हों, जाने हों, परिचय में आये हों, बुरे हों, भले हों, भले प्रकार संस्कृत हों, विकृत हों, नष्ट हों, उत्पन्न हों, स्थूल हों, सूक्ष्म हों, जड़ हों, चेतन हों, इन्द्रियों को प्रिय हों, वा अप्रिय हों, कोई प्रयोजन नहीं ।

चिदानन्द का स्वरूप नास्ति-अस्तिरूप में

असौ अनेकरूपोऽपि स्वभावादेकरूपभाग् ।
अगम्यो मोहिनां शीघ्रगम्यो निर्मोहिनां विदां ॥16॥
तन कर्म से उत्पन्न बहुविध विक्रिया से भिन्न ही ।
जो वह चिदानन्द मैं, अनन्त दर्शनादि युक्त ही ॥१५॥
अन्वयार्थ : यह चिदानंद, शरीर और कर्मों के समस्त विकारों से रहित है और अनंत-दर्शन अनंत-ज्ञान आआदि आत्मिक गुणों से संयुक्त है ।

शुद्ध-चिद्रूप के प्राप्ति की अपात्रता और पात्रता

असौ अनेकरूपोऽपि स्वभावादेकरूपभाग् ।
अगम्यो मोहिनां शीघ्रगम्यो निर्मोहिनां विदां ॥16॥
यों विविध रूपी तथापि, इक रूप सतत स्वभाव से ।
नहिं ज्ञात मोही को सुशीघ्र, ज्ञात ज्ञ बिन मोह से ॥१६॥
अन्वयार्थ : यद्यपि यह चिदानंद स्वरूप आत्मा अनेक स्वरूप है तथापि स्वभाव से यह एक ही स्वरूप है / जो मूढ़ है -- मोह की श्रंखला से जकड़े हुए हैं, वे इसका जरा भी पता नहीं लगा सकते; परन्तु जिन्होंने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया है, वे इसका बहुत जल्दी पता लगा लेते हैं ।

चिदानंद स्वरूप का अनन्त धर्मात्मक स्वभाव

चिद्रूपोऽयमनाद्यंतः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।
कर्मणाऽस्ति युतोऽशुद्धः शुद्धः कर्मविमोचनात् ॥17॥
चिद्रूप यह अनादिनिधन, उत्पादव्ययध्रुवता सहित ।
है बँधा कर्मों से अशुद्ध, शुद्ध कर्मों से रहित ॥१७॥
अन्वयार्थ : यह चिदानंद स्वरूप आत्मा, अनादि अनंत है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्था स्वरूप है। जबतक कर्म से युक्त बना रहता है, तबतक अशुद्ध और जिस समय कर्म से सर्वथा रहित हो जाता है, उस समय शुद्ध हो जाता है ।

शुद्ध-चिद्रूप के सदा अपने मन में विद्यमान रहने की भावना

शून्याशून्यस्थूलसूक्ष्मोस्तिनास्तिनित्याऽनित्याऽमूर्तिमूर्तित्वमुख्यैः ।
धर्मैर्युक्तोऽप्यन्यद्रव्यैर्विमुक्तः चिद्रूपोयं मानसे मे सदास्तु ॥18॥
है शून्याशून्य स्थूल सूक्षम, अस्ति नास्ति सदा ही ।
है नित्यानित्य अमूर्त मूर्त, अनेकों धर्मोंमयी॥
पर अन्य द्रव्यों से सदा ही, पूर्णतया पृथक् सदा ।
चिद्रूप यह मेरे हृदय में, स्वयं शोभित हो सदा ॥१८॥

अन्वयार्थ : यह चेतन्य-स्वरूप आत्मा शून्यत्व, अशून्यत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, अमूर्तित्व और मूर्तित्व आदि अनेक धर्मों से संयुक्त है और पर-द्रव्यों के सम्बन्ध से विरक्त है, इसलिये ऐसा चिद्रूप सदा मेरे हृदय में विराजमान रहो ।

शुद्ध चिद्रूप-रत्न की प्राप्ति से पूर्ण तृप्तता

ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं न च विशदमतेः श्रेयमादेयमन्यत् ।
श्रीमत्सर्वज्ञवाणीजलनिधिमथनात् शुद्धचिद्रूपरत्नं
यस्माल्लब्धं मयाहो कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वंप्रियं च ॥19॥
जो अनादि से नहीं पाया, भाग्य से चिद्रूप ही ।
यह शुद्ध रत्न मुझे मिला, सर्वज्ञ-वाणी जलनिधि ॥
के मथन से अतएव जग में, अन्य कुछ भी है नहीं ।
मुझ विशद धी को श्रेय, ध्येय वाच्य कार्य रहा नहीं ॥
नहिं शेष अब कुछ ज्ञेय दृश्य, न गम्य श्रव्य न लभ्य ही ।
मैं स्वयं को कर ग्रहण स्व में, तृप्त नित संतुष्ट भी ॥१९॥

अन्वयार्थ : भगवान सर्वज्ञकी वाणीरूपी समुद्र के मंथन करने से मैंने बड़े भाग्य से शुद्ध चिद्रूपरूपी रत्न प्राप्त कर लिया है और मेरी बुद्धि पर-पदार्थों को निज न मानने से स्वच्छ हो चुकी है, इसलिये अब मेरे लिये संसार में कोई पदार्थ न जानने लायक रहा और न देखने योग्य, ढूँढने योग्य, कहने योग्य, ध्यान करने योग्य, सुनने योग्य, प्राप्त करने योग्य, आश्रय करने योग्य, और ग्रहण करने योग्य ही रहा; क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप अप्राप्त पूर्व (पहिले कभी भी प्राप्त न हुआ था) और अतिप्रिय है ।

शुद्ध चित् रूप को धारण करने की पात्रता

शुद्धचिद्रूपरूपोहमिति मम दधे मंक्षु चिद्रूपरूपं
चिद्रूपेणैव नित्यं सकलमलमिदा तेनचिद्रूपकाय ।
चिद्रूपाद् भूरिसौख्यात् जगति वरतरात्तस्य चिद्रूपकस्य
माहात्म्यं वैति नान्यो विमलगुणगणे जातु चिद्रूपकेऽज्ञात् ॥20॥
मैं शुद्ध चिद्रूपी स्वयं, चिद्रूप द्वारा सकल मल ।
भेदक सतत चिद्रूप ही, धारूँ सदा चिद्रूपमय ॥
परिपूर्ण सौख्य स्वरूप-भर, चिद्रूप से जग में नहीं ।
है श्रेष्ठ कोई अन्य उस, चिद्रूप का माहात्म्य ही ॥
जाने नहीं जो विमल-गुण, गण शुद्ध चिद्रूपत्व में ।
हैं अज्ञ कैसे पाएंगे वे, नहीं लगते इसी में ॥२०॥

अन्वयार्थ : शुद्धचित्स्वरूपी मैं, समस्त दोषों के दूर करने वाले चित्स्वरूप के द्वारा चिदरूप की प्राप्ति के लिये सौख्य के भंडार और परम

पावन चिद्रूप से अपने चिद्रूप को धारण करता हूँ। मुझसे भिन्न अन्य मनुष्य, उसके विषय में अज्ञानी, न उद्यम कर सकता है और न उसे धारण ही कर सकता है। 'मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ', ऐसा चिद्रूप का मुझे ज्ञान है और उसके माहात्म्य को भी भलेप्रकार समझता हूँ, इसलिये उसके द्वारा उससे उसकी प्राप्ति के लिये मैं उसे धारण करता हूँ; किन्तु जो मनुष्य चिद्रूप का ज्ञान नहीं रखता और चिद्रूप के माहात्म्य को भी नहीं जानता, वह उसे धारण भी नहीं कर सकता ॥२०॥

शुद्धात्मा के स्मरण-बिना मोक्ष नहीं

मृत्पिंडेन विना घटो न न पटस्तंतून् विना जायते
धातुनैर्व विना दलं न शकटः काष्टं विना कुत्रचित् ।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं बिना
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुनेर्मोक्षस्तथा नैव च ॥1॥
सब अन्य साधन हों तथापि, घट नहीं मृत् पिण्ड बिन ।
तन्तु बिना पट नहीं धातु खान बिन ज्यों काष्ठ बिन ॥
गाड़ी नहीं नहिं बीज बिन हो धान्य त्यों शुद्धात्मा ।
के स्मरण संतुष्टि बिन, नहिं मोक्ष होता मुनि का ॥२.१॥
अन्वयार्थ : जिसप्रकार अन्य सामान्य कारणों के रहनेपर भी कहीं भी असाधारण कारण मिट्टी के पिंड के बिना घट नहीं बन सकता, तंतुओं के बिना पट, खंदक (जिस जगह गेरू आदि उत्पन्न होते हैं) के बिना गेरू आदि धातु, काष्ठ के बिना गाड़ी और बीज के बिना धान्य नहीं हो सकता, उसीप्रकार जो मुनि मोक्ष के अभिलाषी हैं, वे भी बिना शुद्धचिद्रूप के स्मरण के उसे नहीं पा सकते ।

चित् रूप के स्मरण की विशेषता

बीजं मोक्षतरोर्भवार्णवतरी दुःखाटवीपावको
दुर्गं कर्मभियां विकल्परजसां वात्यागसां रोधनं ।
शस्त्रं मोहजये नृणामशुभतापर्यायरोगौषधं
चिद्रूपस्मरणं समस्ति च तपोविद्यागुणानां गृहं ॥2॥
चिद्रूप का यह स्मरण, नित मोक्षतरु का बीज है ।
नित भवोदधि से पार होने हेतु नौका अनल है॥
दुखरूप वन को भस्म करने, सुरक्षित दृढ़ किला है ।
नित कर्म से भयभीत को, सब पापरोधक अनिल है ॥
नित विकलता रज उड़ाने को, मोह भट को जीतने ।
हेतु सुशस्त्र अशुभमयी पर्यायव्याधि मेटने ॥
है परम औषधि तपो विद्या गुणों का गृह एक ही ।
चिद्रूप का यह मनन घोलन, अत: नित रमना यहीं ॥२.२॥
अन्वयार्थ : यह शुद्धचिद्रूप का स्मरण मोक्ष का बीज है । संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए नौका है । दुख:रूपी भयंकर वन के लिये दावानल है । कर्मों से भयभीत मनुष्यों के लिये सुरक्षित सुदृढ़ किला है । विकल्परूपी रज के उड़ने के लिये पवन का समूह है । पापों का रोकने वाला है । मोहरूप सुभट के जीतने के लिये शस्त्र है। नरक आदि अशुभ पर्यायरूपी रोगों के नाश करने के लिये उत्तम अव्यर्थ औषध है एवं तप, विद्या और अनेक गुणों का घर है ।

शुद्ध चित् रूप की भावना से सभी दु:ख समाप्त

क्षुत्तृट्रुग्वातशीतातपजलवचसः शस्त्रराजादिभीभ्यो

भार्यापुत्रारिनैः स्वानलनिगडगवाद्यश्वररैकंटकेभ्यः ।
संयोगायोगदंशिप्रपतनरजसो मानभंगादिकेभ्यो
जातं दुःखं न विद्मः क्व च पटति नृणांशुद्धचिद्रूपभाजां ॥3॥
नित भूख प्यास कठोर वाणी, रोग जल राजा अनिल ।
अति शीत गर्मी शस्त्र स्त्री, पुत्र अरि कंटक अनल॥
धनहीन बेड़ी डाँस मच्छर, मान भंग वियोगमय ।
गज अश्व पशुकृत अनेकों, दुख सहे यह भयभीत रह॥
इत्यादि बहु विध दु:ख भव में, भोगता पर नहिं रहें ।
सब नष्ट होते शुद्ध चिद्रूप भावना से जीव के ॥२.३॥
अन्वयार्थ : संसार में जीवों को क्षुधा, तृषा, रोग, वात, ठंडी, उष्णता, जल, कठोर वचन, शस्त्र, राजा, स्त्री, पुत्र, शत्रु, निर्धनता, अग्नि, बेड़ी, गौ, भैंस, धन, कंटक, संयोग, वियोग, डाँस, मच्छर, पतन, धूलि और मानभंग आदि से उत्पन्न हुये अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, परन्तु न मालूम जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण करने वाले हैं उनके वे दुःख कहाँ विलीन हो जाते हैं ?

चिद्रूप के ध्यान से सुख

स कोपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥4॥
चिद्रूप के सुध्यान से, जो परम आनन्द प्रगट हो ।
नहिं त्रिजग स्वामी इन्द्र आदि, को कभी कुछ अंश हो ॥२.४॥
अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूपके ध्यान से वह एक अद्वितीय और अपूर्व ही आनन्द होता है कि जिसका अंश भी तीन जगत के स्वामी इन्द्र आदि को प्राप्त नहीं हो सकता ।

चिद्रूप के ध्यान से प्रगट सुख की महिमा

सौख्यं मोहजयोऽशुभास्त्रवहतिर्नाशोऽतिदुष्कर्मणा-
मत्यंतं च विशुद्धता नरि भवेदाराधना तात्त्विकी ।
रत्नानां त्रितयं नृजन्मसफ लं संसारभीनाशनं
चिद्रूपोहमितिस्मृतेश्च समता सद्भ्यो यशःकीर्त्तनं ॥5॥
'चिद्रूप मैं' यों स्मरण से, सौख्य हो मोहादि पर ।
हो विजय पापास्रव अति दुष्कर्म नष्ट विनष्ट भय ॥
अतिशय विशुद्धि वास्तविक, आराधना सद् रत्नत्रय ।
हो सफलता नर जन्म की, समता सभी में यश कथन ॥२.५॥
अन्वयार्थ : 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण होते ही नानाप्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है । मोह का विजय, अशुभ आस्रव और दुष्कर्मों का नाश, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम तात्विक आराधना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों की प्राप्ति, मनुष्य जन्म की सफलता, संसार के भय का नाश, सर्व जीवों में समता और सज्जनों के द्वारा कीर्ति का गान होता है ।

'शुद्ध चित् रूप मैं हूँ' इस स्मरण के लाभ

वृतं शीलं श्रुतं चाखिलखजयतपोदृष्टिसद्भावनाश्च
धर्मो मूलोत्तराख्या वरगुणनिकरा आगसां मोचनं च ।
बाह्यांतः सर्वसंगत्यजनमपि विशुद्धांतरगं तदानी-

मूर्मीणां चोपसर्गस्य सहनमभवच्छुद्धचित्संस्थितस्य ॥6॥
नित शुद्ध चिद्रूप में मगन, व्रत शील श्रुत पा हो जयी ।
सब इन्द्रियों का तप सुदृष्टि सुभावना मूलोत्तरी ॥
उत्तम गुणों धर्मादिमय, सब पाप नाशक त्याग कर ।
सब परिग्रहों का हो विशुद्ध, उपसर्ग बहुविध सहन कर ॥२.६॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप में स्थित है उसके सम्यक्चारित्र, शील और शास्त्र की प्राप्ति होती है, इन्द्रियों का विजय होता है, तप, सम्यग्दर्शन, उत्तम भावना और धर्म का लाभ होता है, मूल और उत्तररूप कहलाते उत्तमगुण प्राप्त होते हैं, समस्त पापों का नाश, बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह का त्याग और अन्तरंग विशुद्ध हो जाता है एवं वह नानाप्रकार के उपसर्गों की तरंगों को भी झेल लेता है ।
तीर्थेषूत्कृष्टतीर्थं श्रुतिजलधिभवं रत्नमादेयमुच्चैः
सौख्यानां वा निधानं शिवपदगमने वाहनं शीघ्रगामि ।
वात्यां कर्मोधरणो भववनदहने पावकं विद्धि शुद्ध-
चिद्रूपोहं विचारादिति वरमतिमन्नक्षराणां हि षटकं ॥7॥
'मैं शुद्ध ही चिद्रूप नित', धीमान ऐसा ध्या सतत ।
सर्वोत्कृष्ट सुतीर्थ तीर्थों में जिनागम जलधि नित ॥
उत्पन्न उत्तम ग्राह्य, रत्न निधान सौख्य सुवेग मय ।
वाहन सदा शिवपद गमन में, कर्म धूली को पवन ॥
भववन दहन में तीव्र अग्नि, जान यह षट् अक्षरी ।
मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा, ध्या इसे ही रह मगन भी ॥२.७॥
अन्वयार्थ : हे मतिमन् ! 'शुद्धचिद्रूपोऽहं' मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ, ऐसा सदा तुझे विचार करते रहना चाहिये; क्योंकि 'शुद्धचिद्रूपोहं' ये छह अक्षर संसार से पार करने वाले समस्त तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ हैं । शास्त्ररूपी समुद्र से उत्पन्न हुये ग्रहण करने के लायक उत्तम रत्न हैं। समस्त सुखों के विशाल खजाने हैं । मोक्ष-स्थान ले जाने के लिये बहुत जल्दी चलने वाले वाहन (सवारी) हैं । कर्मरूपी धूलि के उड़ाने के लिये प्रबल पवन हैं और संसाररूपी वन को जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि हैं ।

शुद्ध चित् रूप के स्मरण का फल

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यांति रागादय एव शुद्ध चिद्रूपकोहंस्मरणे न विद्मः ॥8॥
मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा, इस ध्यान में दिखते नहीं ।
शुभ अशुभ कर्म, सभी परिग्रह, राग आदि भी सभी ॥२.८॥
अन्वयार्थ : हम नहीं कह सकते कि -- 'शुद्धचिद्रूपोहं' मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण करते ही शुभ-अशुभ कर्म, चेतन अचेतनस्वरूप परिग्रह और राग, द्वेष आदि दुर्भाव कहाँ लापता हो जाते हैं ?

ध्यानों में शुद्धात्मा का ध्यान सर्वोत्तम

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेन्द्रो महान् ।
भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः ॥9॥
ज्यों पर्वतों में मेरु तरुओं में कलपतरु धातु में ।
उत्तम सुवर्ण सुज्ञान में कैवल्यज्ञान चरित्र में ॥

समता रतन में चिन्तामणि गायों में सुरधेनु सदा ।
मनुजों में चक्री आप्त में हैं तीर्थकर अमृत कहा ॥
सब पेय में सब देवगण में इन्द्र सर्वोत्तम कहा ।
त्यों सभी ध्यानों में परम चिद्रूप ध्यान सदा कहा ॥२.९॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पर्वतों में मेरु, वृक्ष में कल्पवृक्ष, धातुओं में स्वर्ण, पीने योग्य पदार्थों में अमृत, रत्नों में चिन्ता-मणिरत्न, ज्ञानों में केवलज्ञान, चारित्रों में समतारूप चारित्र, आप्तों में तीर्थंकर, गायों में कामधेनु, मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र महान और उत्तम हैं उसीप्रकार ध्यानों में शुद्धचिद्रूप का ध्यान ही सर्वोत्तम है ।

शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति से ही जीव को संतुष्टि

निधानानां प्राप्तिर्न च सुरकुरुरुहां कामधेनोः सुधा-
याश्चिंतारत्नानामसुरसुरनराकाशगेशें दिराणां ।
खभोगानां भोगावनिभवनभुवां चाहमिंद्रादिलक्ष्म्या
न संतोषं कुर्यादिह जगति यथा शुद्धचिद्रूपलब्धिः ॥10॥
बहु निधानों की प्राप्ति कल्पतरु सुधा चिन्तामणि ।
सुर असुर नर विद्याधराधिप, लक्ष्मी अहमिन्द्र की ॥
नित कामधेनु भोगभूमि, भोग तृप्त करें नहीं ।
पर शुद्ध चिद्रूपी की लब्धि, करे नित सन्तुष्ट ही ॥२.१०॥

अन्वयार्थ : यद्यपि अनेक प्रकार के निधान (खजाने), कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिन्तामणि रत्न, सुर, असुर, नर और विद्याधरों के स्वामियों की लक्ष्मी, भोगभूमियों में प्राप्त इन्द्रियों के भोग और अहमिन्द्र आदि की लक्ष्मी की प्राप्ति संसार में संतोष सुख प्रदान करने वाली है; परन्तु जिसप्रकार का संतोष शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से होता है, वैसा इन किसी से नहीं होता ।

सम्यग्ज्ञानिओं द्वारा प्रशंसनीय

ना दुर्वर्णो विकर्णो गतनयनयुगो वामनः कुब्जको वा
छिन्नघ्राणः कुशब्दो विकलकरयुतो वाग्विहीनोऽपि पंगुः ।
खंजो निःस्वोऽनधीतश्रुत इह बधिरः कुष्ठरोगादियुक्तः
श्लाध्यः चिद्रूपचिंतापरः इतरजनो नैव सुज्ञानवद्भिः ॥11॥
हो भले काला कूवड़ा, अंधा दरिद्री मूर्ख भी ।
नकटा कुवादी कुष्ट रोगी, गूंगा बहरा पंगु भी ॥
कर-हीन बौना आदि विकलांगी प्रशंसा योग्य ही ।
नित ज्ञानिओं से यदी वह, चिद्रूप ध्याता, अन्य नहिं ॥२.११॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष शुद्धचिद्रूप की चिन्ता में रत है-सदा शुद्धचिद्रूप का विचार करता रहता है वह चाहे दुर्वर्ण (काला), कबरा (बूचा), अंधा, बौना, कुबड़ा, नकटा, कुशब्द बोलनेवाला, हाथ रहित-ठूंठा, गूंगा, लूला, गंजा, दरिद्र, मूर्ख, बहरा और कोढ़ी आदि कोई भी क्यों न हो विद्वानों की दृष्टि में प्रशंसा के योग्य है । सब लोग उसे आदरणीय दृष्टि से देखते हैं; किन्तु अन्य सुन्दर भी मनुष्य यदि शुद्धचिद्रूप की चिन्ता से विमुख है तो उसे कोई अच्छा नहीं कहता ।

शुद्ध चित् रूप के चिन्तन की महिमा

रेणूनां कर्मणः संख्या प्राणिनो वेत्ति केवली ।
न वेद्मीति क्व यांत्येते शुद्धचिद्रूपचिंतने ॥12॥

नित जीव के कर्मों की संख्या, केवली ही जानते ।
वे भी चले जाते सभी, चिद्रूप शुध के ध्यान से ॥२.१२॥
अन्वयार्थ : आत्मा के साथ कितने कर्म की रेणुओं (वर्गणाओं) का संबंध होता है ? इस बात की सिवाय केवली के अन्य कोई भी मनुष्य गणना नहीं कर सकता; परन्तु न मालूम शुद्धचिद्रूप की चिन्ता करते ही वे अगणित भी कर्मवर्गणायें कहां लापता हो जाती हैं ?

शुद्ध चित् रूप का स्मरण सदा करने की प्रेरणा

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्ध प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ॥13॥
वह निजात्मा चिद्रूप शुद्ध, प्रतिक्षण ध्याओ सदा ।
इसमें मगनता से सभी, कर्मों का क्षय हो ही सदा ॥२.१३॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! स्मरण करते ही समस्त कर्मों के नाश करने वाले शद्धचिद्रूप का तू प्रतिक्षण स्मरण कर क्योंकि शुद्धचिप और स्वात्मा में कोई भेद नहीं है ।

इसका स्मरण ही सर्वोत्कृष्ट स्मरण

उत्तमं स्मरणं शुद्धचिद्रूपोऽहमितिस्मृतेः ।
कदापि क्वापि कस्यापि श्रुतं दृष्टं न केनचित् ॥14॥
शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन ।
उत्तमं क्वापि कस्यापि भूतमस्ति भविष्यति ॥15॥
'मैं शुद्ध चिद्रूपी' सदा, स्मृति सर्वोत्तम कही ।
इसके अलावा अन्य कुछ, उत्तम सुना देखा नहीं ॥२.१४॥
इस शुद्ध चिद्रूप के समान, न हुआ है होगा नहीं ।
कुछ अन्य उत्तम ध्येय इससे, इसे ही ध्याओ सभी ॥२.१५॥
अन्वयार्थ : 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण ही सर्वोत्तम स्मरण माना गया है; क्योंकि उससे उत्तम स्मरण कभी भी, कहीं भी, किसी भी स्थान पर हुआ, किसी ने भी न सुना और न देखा है ।
शुद्धचिद्रूप के समान उत्तम और ध्येय (ध्याने योग्य) पदार्थ कदाचित् कहीं न भी हुआ, न है और न होगा ।

मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र उपाय

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाध्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंदमन्दिरं ॥16॥
शिव सम्पदा साधक हुए जो, हो रहे हैं होंयगे ।
वे शुद्ध आनन्दधाम यह, चिद्रूप ध्याने से हुए ॥२.१६॥
अन्वयार्थ : जो योगी मोक्ष नित्यानंदरूपी संपद्धि को प्राप्त - हुये, होते हैं और होंगे, उसमें शुद्धचिद्रूप की आराधना ही कारण है। बिना शुद्धचिद्रूप की भलेप्रकार आराधना के कोई मोक्ष (नित्यानंद) नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि यह शुद्ध चिद्रूप ही आनन्द का मन्दिर है - अद्वितीय नित्य आनन्द प्रदान करनेवाला है ।

सम्पूर्ण जिनागम के एक मात्र उपादेय

द्वादशांगं ततो बाह्यं श्रुतं जिनवरोदितं ।
उपादेयतया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः ॥17॥
सब जिन कथित अंग बाह्य, अंग प्रविष्ट श्रुत में नित कहा ।

बहु विविध में से ग्राह्य है, बस शुद्ध चिद्रूपी सदा ॥२.१७॥

अन्वयार्थ : भगवान जिनेन्द्र ने अंगप्रविष्ट (द्वादशांग) और अंगबाह्य दो प्रकार के शास्त्रों का प्रतिपादन किया है । इन शास्त्रों में यद्यपि अनेक पदार्थों का वर्णन किया है; तथापि वे सब हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) शुद्धचिद्रूप को बतलाया है ।

शुद्ध चिद्रूप के सत् ध्यान का फल

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानाद् गुणाः सर्वे भवंति च ।
दोषाः सर्वे विनश्यंति शिवसौख्यं च संभवेत् ॥18॥
इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, होते सभी गुण सौख्य शिव ।
भी हो इसी से नष्ट होते हैं इसी से दोष सब ॥२.१८॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप का भलेप्रकार ध्यान करने से समस्त गुणों की प्राप्ति होती है। राग-द्वेष आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और निराकुलतारूप मोक्ष सुख मिलता है ।

चिद्रूपेण च घातिकर्महननाच्छुद्धेन धाम्ना स्थितं
यस्मादत्र हि वीतरागवपुषो नाम्नापि नुत्यापि च ।
तद्बिंबस्य तदोकसो झगिति तत्कारायकस्यापि च
सर्व गच्छति पापमेति सुकृतं तत्तस्य किं नो भवेत् ॥19॥
जब वीतरागी नाम से, स्तुति से तद्बिम्ब को ।
कर करे मन्दिर शीघ्र ही हों पाप नष्ट सुप्राप्त हों ॥
बहु पुण्य तब शुद्ध तेजमय, चिद्रूप ध्याता को कहो ।
हो उत्तमोत्तम क्या नहीं? घाति करम क्षय सौख्य हो ॥२.१९॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप के ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायरूप घातिया कर्मों का नाश हो जाता है; क्योंकि वीतराग-शुद्धचिद्रूप का नाम लेने से, उनकी स्तुति करने से तथा उनकी मूर्ति और मन्दिर बनवाने से ही जब समस्त पाप दूर हो जाते हैं और अनेक पुण्यों की प्राप्ति होती है, तब उनके (शुद्धचिद्रूप के) ध्यान करने से तो मनुष्य को क्या उत्तम फल प्राप्त न होगा ?

इन लाभों की ज्ञानिओं से पुष्टि

कोऽसौ गुणोस्ति भुवने न भवेत्तदा यो
दोषोऽथवा क इह यस्त्वरितं न गच्छेत् ।
तेषां विचार्य कथयंतु बुधाश्च शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहमिति ये यमिनः स्मरंति ॥20॥
हे बुध! स्वयं सोचो कहो, 'चिद्रूप मैं' शुध ध्यान से ।
वे कौन गुण जो हों नहीं, नहिं मिटें अवगुण कौन वे? ॥२.२०॥

अन्वयार्थ : प्रिय विद्वानों ! आप ही विचार कर कहें, जो मुनिगण 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण करने वाले हैं उन्हें उस समय कौनसे तो वे गुण हैं जो प्राप्त नहीं होते और कौनसे वे दोष हैं जो उनके नष्ट नहीं होते ?

शुद्ध-चिद्रूप के स्मरण की अतुलनीयता

तिष्ठंत्वेकत्र सर्वे वरगुणनिकराः सौख्यदानेऽतितृप्ताः
संभूयात्यंतरम्या घरविधिजनिता ज्ञानजायां तुलायां ।
पार्श्वेन्यस्मिन् विशुद्धा ह्युपविशतु वरा केवला चेति शुद्ध-
चिद्रूपोहंस्मृतिर्भो कथमपि विधिना तुल्यतां ते न यांति ॥21॥

'चिद्रूप मैं हूँ' स्मृति, रख ज्ञान रूपी तुला पर ।
इक ओर दुसरे पर रखो, बहु भाग्य अर्जित अति सुखद ॥
अति-रम्य बहु तृप्ति प्रदा, सब श्रेष्ठ गुण गण सर्वदा ।
'चिद्रूप मैं हूँ' स्मृति से, पर न रंच समानता ॥२.२१॥
अन्वयार्थ : ज्ञान को तराजू की कल्पना कर उसके एक पलड़े में समस्त उत्तमोत्तम गुण, जो भांति-भांति के सुख प्रदान करने वाले हैं, अत्यन्त रम्य और भाग्य से प्राप्त हुये हैं, इकट्ठे रखें और दूसरे पलड़े में अतिशय विशुद्ध केवल 'मैं शुद्ध चिद्रूरूप है' ऐसी स्मृति को रखें तब भी वे गुण शुद्धचिद्रूप की स्मृति की तनिक भी तुलना नहीं कर सकते ।

शुद्ध-चित्-रूप में स्थिरता का माहात्म्य

तीर्थतां भूः पदैः स्पृष्टा नाम्ना योऽघचयः क्षयं ।
सुरौधो याति दासत्वं शुद्धचिद्रक्तचेतसां ॥22॥
नित शुद्ध चिद्रूपत्व ध्याता के चरण स्पर्श से ।
पा तीर्थता भू पापनाशक नाम सुर सेवक बनें ॥२.२२॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप के धारक हैं उसके ध्यान में अनुरक्त हैं, उनके चरणों से स्पर्श की हुई भूमि तीर्थ 'अनेक मनुष्यों को संसार से तारने वाली' हो जाती है । उनके नाम के लेने से समस्त पापों का नाश हो जाता है और अनेक देव उनके दास हो जाते हैं ।

उदाहरण द्वारा उपादान-उपादेय संबंध

शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोन्योऽन्यस्य चिंतनात् ।
लोहं लोहाद् भवेत्पात्रं सौवर्णं च सुवर्णतः ॥23॥
ज्यों लोह से हो लोहमय, सौवर्ण पात्र सुवर्ण से ।
त्यों शुद्ध चिद्रूप ध्यान से हो शुद्ध कलुषित अन्य से ॥२.२३॥
अन्वयार्थ : जिसप्रकार लोहे से लोहे का पात्र और स्वर्ण से स्वर्ण का पात्र बनता है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूप की चिन्ता करने से आत्मा शुद्ध और अन्य के ध्यान करने से अशुद्ध होता है ।

एक मात्र शुद्ध चिद्रूप में मग्नता ही कर्तव्य

मग्ना ये शुद्धचिद्रूपे ज्ञानिनो ज्ञानिनोपि ये ।
प्रमादिनः स्मृतौ तस्य तेपि मग्ना विधेर्वशात् ॥24॥
हैं शुद्ध चिद्रूप में मगन, ज्ञानी उदय-वश प्रमादी ।
हों भले ज्ञानी मान्यता में तो उसी में मग्न ही ॥२.२४॥
अन्वयार्थ : जो शुद्धचिरूप के ज्ञाता हैं, वे भी उसमें मग्न हैं और जो उसके ज्ञाता होने पर भी उसके स्मरण करने में प्रमाद करने वाले हैं, वे भी उसमें मग्न हैं । अर्थात् स्मृति न होने पर भी उन्हें शुद्धचिद्रूप का ज्ञान ही आनन्द प्रदान करने वाला है ।

शरीर को पूज्य बनाने का उपाय

सप्तधातुमयं देहं मलमूत्रादिभाजनं ।
पूज्यं कुरु परेषां हि शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥25॥
मल मूत्र आदि से भरा, तन सात धातुय इसे ।
नित शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, कर पूज्य पावन अन्य से ॥२.२५॥
अन्वयार्थ : यह शरीर रक्त, वीर्य, मज्जा आदि सात धातु स्वरूप है । मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थों का घर है, इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे इस निकृष्ट और अपवित्र शरीर को भी शुद्धचिद्रूरूप की चिंता से दूसरों के द्वारा पूज्य और पवित्र बनावें ।

शुद्ध चित् रूप की प्राप्ति के साधन

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मंदिरार्चाविधाना-
च्चतुर्धा दानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानतः संयमाच्च ।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधेः क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्
क्रमाच्चिद्रूपाप्तिर्भवति जगति ये वांछकास्तस्य तेषां ॥1॥
जिनबिम्ब के प्रक्षाल स्तुति, पूजनादि जाप से ।
जिनगृह बनाने पूजने, आहार आदि दान से ॥
जिनसूत्र अध्ययन ध्यान, संयम शील इन्द्रिय विजय से ।
व्रत तीर्थ यात्रादि गमन, उत्तम क्षमादि धर्म से ॥
इत्यादि बहु विध विशुद्धि पूर्वक निजातम **अर्थि** को ।
शुद्धात्मा के ध्यान से, चिद्रूप शुद्धि प्राप्त हो ॥३.१॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें जिनेन्द्र का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति, पूजा और जप करने से, मन्दिर की पूजा और उसके निर्माण से, आहार, औषध, अभय और शास्त्र-चार प्रकार के दान देने से, शास्त्रों के अध्ययन से, इन्द्रियों के विजय से, ध्यान से, संयम से, व्रत से, शील से, तीर्थ आदि में गमन करने से और उत्तम क्षमा आदि धर्मों के धारने से क्रमश: शुद्धचिद्रप की प्राप्ति होती है ।

देवादि को पूजने का कारण

देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं भदंतं च तदाकृतिं ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुत्वाद् भजते सुधीः ॥2॥
श्रुत, देव, गुरु, मुनि बिम्ब उनके, तीर्थ आदि ध्यान के ।
हेतु कहे चिद्रूप शुद्धि, सुधी नित सेवें उन्हें ॥३.२॥

अन्वयार्थ : देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रतिमा शुद्धचिद्रूप के ध्यान में कारण हैं; बिना इनकी पूजा सेवा किये शुद्धचिद्रूप की ओर ध्यान जाना सर्वथा दुःसाध्य है, इसलिये शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वान, अवश्य देव आदि की सेवा उपासना करते हैं ॥२॥

किन्हें ग्रहण करना और किनका त्याग करना

अनिष्टान् खहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्याने सुधीर्हेतूनहेतुकान् ॥3॥
मन इन्द्रियों को अरुचिकर, पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान के ।
हैं हेतु तो लेना उन्हें, विपरीत उनको छोड़ दे ॥३.३॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप के ध्यान करते समय इन्द्रिय और मन के अनिष्ट पदार्थ भी यदि उसकी प्राप्ति में कारण स्वरूप पड़े तो उनका आश्रय कर लेना चाहिये और इन्द्रिय - मन को इष्ट होने पर भी यदि वे उसकी प्राप्ति में कारण न पड़े - बाधक पड़े तो उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिये ।

मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितं ।
हितं सुधीः प्रयत्नेन द्रव्यादिकचतुष्टयं ॥4॥
नित यत्न पूर्वक छोड़ दे, द्रव्यादि चारों अहितकर ।
यदि शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, विपरीत इससे ग्रहण कर ॥३.४॥

अन्वयार्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप पदार्थो में जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने में हितकारी न हो उसे छोड़ देना चाहिये और

जो उसकी प्राप्ति में हितकारी हो उसका बड़े प्रयत्न से आश्रय करना चाहिये ।
संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥5॥
नित शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति हेतु, सब परिग्रह छोड़ गिरि ।
गह्वर विजन में रहें ज्ञानी, निष्पृही हो नित्य ही ॥३.५॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य ज्ञानी हैं, वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त पदार्थों में सर्वथा निस्पृह हो समस्त परिग्रह का त्याग कर देते हैं और एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओं में जाकर रहते हैं ॥५॥

किसी भी कार्य की थोड़ी-सी भी चिन्ता के दुष्परिणाम

स्वल्पकार्यकृतौ चिंता महावज्रायते ध्रुवं ।
मुनीनां शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वत भंजने ॥6॥
ज्यों वज्र पर्वत नष्ट करता, शुद्ध चिद्रूप ध्यान गिरि ।
नाशक जगत के कार्य की, चिन्ता भले अत्यल्प ही ॥३.६॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार वज्र पर्वत को चूर्ण-चूर्ण कर देता है उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की चिन्ता करनेवाला है, वह यदि अन्य किसी थोड़े से भी कार्य के लिये जरा भी चिन्ता कर बैठता है तो शुद्धचिद्रूप के ध्यान से सर्वथा विचलित हो जाता है ।
शुद्धचिद्रूपसद्धयानभानुरत्यंतनिर्मलः ।
जनसंगतिसंजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत् ॥7॥
'मैं शुद्ध चिद्रूप' ध्यान रूपी, सूर्य अति निर्मल सदा ।
जन संगति से व्यक्त चिन्ता, रूपि घन से नित ढ़का ॥३.७॥
अन्वयार्थ : यह शुद्धचिद्रूप का ध्यानरूपी सूर्य, महानिर्मल और देदीप्यमान है । यदि इस पर स्त्री, पुत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुये विकल्परूपी मेघ का पर्दा पड़ जायगा तो यह ढँक ही जायगा ।

अभव्य को इस शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं होता

अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत् ।
वंध्यायां किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा ॥8॥
ज्यों बाँझ के सुत नहीं, खर के सींग नहीं नहीं कभी ।
त्यों शुद्ध चिद्रूप तत्त्व, ध्यानादि अभव्यों के सभी ॥३.८॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार बांझ के पुत्र नहीं होता और गधे अर्थ के सींग नहीं होते, उसी प्रकार अभव्य के शुद्धचिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता ।

दूर-भव्य की भी इसमें रुचि नहीं होती

दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः
यथाऽजीर्णविकारस्य न भवेदन्नसंरुचिः ॥9॥
जैसे अजीर्ण विकार युत, की नहीं भोजन में रुचि ।
त्यों दूर भव्यों के नहीं, चिद्रूप शुध की ध्यान रुचि ॥३.९॥
अन्वयार्थ : जिसको अजीर्ण का विकार है (खाया-पीया नहीं पचता) उसकी जिसप्रकार अन्न में रुचि नहीं होती, उसी प्रकार जो दूरभव्य है उसकी भी शुद्धचिद्रूप के ध्यान में प्रीति नहीं हो सकती ॥९॥

भेद-ज्ञान के बिना शुद्ध चित् रूप का ज्ञान सम्भव नहीं

भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपज्ञानसंभवः ।
भवेन्नैव यथा पुत्रसंभूतिर्जनकं विना ॥10॥
ज्यों पिता बिन पुत्रोत्पत्ति, जगत में सम्भव नहीं ।
त्यों भेदज्ञान बिना नहीं है, शुद्ध चिद्रूप ज्ञान भी ॥३.१०॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कि पुरुष के बिना स्त्री के पुत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना भेद-विज्ञान के शुद्धचिद्रूप का ध्यान भी नहीं हो सकता ।

निर्ममत्व के बिना शुद्ध चिद्रूप का सद्ध्यान सम्भव नहीं

कर्मांगाखिलसंगे, निर्ममतामातरं विना ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ॥11॥
माता बिना पुत्रोत्पत्ति, नहीं ज्यों त्यों हो नहीं ।
कर्मज सकल संग निर्ममत्व बिना चिद्रूप ध्यान भी ॥३.११॥

अन्वयार्थ : प्रकार बिना माता के पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, उसीप्रकार कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त परिग्रहों में ममता त्यागे बिना शुद्धचिद्रूप का ध्यान भी होना असंभव है (पुत्र की प्राप्ति में जिस प्रकार माता कारण है, उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के ध्यान में स्त्री-पुत्र आदि में निर्ममता, 'ये मेरे नहीं हैं' ऐसा भाव, होना कारण है) ॥११॥

ध्यान के कारण

तत्तस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्न भव्यता ।
भेदज्ञानं परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः ॥12॥
चिन्ता-रहित, एकान्त-स्थल, भेद-ज्ञान रु भव्यता ।
परिपाक अति ही निकट, हेतु ध्यान के निर्मोहता ॥३.१२॥

अन्वयार्थ : इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चिन्ता का अभाव, एकान्त स्थान, आसन्न भव्यपना, भेदविज्ञान और दूसरे पदार्थों में निर्ममता ये शुद्धचिद्रूप के ध्यान में कारण हैं बिना इनके शुद्धचिद्रूप का कदापि ध्यान नहीं हो सकता ॥१२॥

ज्ञानी की प्रवृत्ति

नृस्त्रीतिर्यग्सुराणां स्थितिगतिवचनं नृत्यगानं शुचादि
क्रीड़ाक्रोधादि मौनं भयहसनजरारोदनस्वापशूकाः ।
व्यापाराकाररोगं नुतिनतिकदनं दीनतादुःखशंकाः
श्रृंगारादीन् प्रपश्यन्नमिह भवे नाटकं मन्यते ज्ञः ॥13॥
नर नारि तिर्यग् देव की, स्थिति गति वचनादि को ।
नृत्य गान शोकादि हँसी, क्रीड़ा रुदन क्रोधादि को ॥
भय मौन निद्रा बुढ़ापा, व्यापार आकृति स्तुति ।
दुख दीनता पीड़ा नमन, श्रंगार भोजन रोग भी ॥
इत्यादि बहुविध परिणति, को देख वास्तविक स्थिति ।
ज्ञाता समझता नाटकों सम, जगत की ये प्रवृत्ति ॥३.१३॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य ज्ञानी है - संसार की वास्तविक स्थिति का जानकार है, वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यंच और देवों के स्थिति, गति, वचन को, नृत्य-गान को, शोक आदि को, क्रीड़ा, क्रोध आदि, मौन को, भय, हँसी, बुढ़ापा, रोना, सोना, व्यापार, आकृति, रोग, स्तुति, नमस्कार,

पीड़ा, दीनता, दुःख, शंका, भोजन और श्रृंगार आदि को संसार में नाटक के समान मानता है ।

तत्त्व-विदों में श्रेष्ठ का लक्षण

चक्रींद्रयोः सदसि संस्थितयोः कृपा स्या-
त्तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च ।
सर्वोत्तमेंद्रियसुखस्मरणेऽतिकष्टं
यस्योद्धचेतसि स तत्त्वविदां वरिष्ठः ॥14॥
जिसके विवेकी चित्त में, सिंहासनस्थ चक्क्री ।
शक्रेश ऊपर दया, बहु गुणवान आकृति में रती ॥
सम पट्टरानी इन्द्र रानी में अरुचि अति श्रेष्ठ भी ।
पंचेन्द्रियों की विषय सामग्री सुखों की याद भी ॥
अति कष्ट कर लगती सदा, वह सदा ही उत्कृष्ट है ।
सब तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानी, ध्यानिओं में श्रेष्ठ है ॥३.१४॥
अन्वयार्थ : जिस मनुष्य के हृदय में, सभा में सिंहासन पर विराजमान हुये चक्रवर्ती और इन्द्र के ऊपर दया है, शोभा में रति की तुलना करने वाली इन्द्राणी और चक्रवर्ती की पटरानी में घृणा है और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियों के सुखों का स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है, वह मनुष्य तत्त्वज्ञानियों में उत्तम तत्त्वज्ञानी कहा जाता है ।

क्या मिलने पर क्या अच्छा नहीं लगता

रम्यं वल्कलपर्णमंदिरकरीरं कांजिकं रामठं
लोहं ग्रावनिषादकुश्रुतमटेद् यावन्न यात्यंबरं ।
सौधं कल्पतरुं सुधां च तुहिनं स्वर्णं मणिं पंचमं
जैनीवाचमहो तथेंद्रियभवं सौख्यं निजात्मोद्भवं ॥15॥
जब तक भवन अमृत मणि, सुरतरु सुवर्ण सुवस्त्र भी ।
पिक-स्वर तुहिन जिनवचन आदि नहीं मिलें तब तक सभी ॥
बक्कल करीर कुशास्त्र पर्ण कुटी पषाण रु हीन भी ।
गर्दभ ध्वनि काँजी रु लोहा, हींग आदि भले ही ॥
लगते तथा आत्मीक सुख, पाया नहीं इस जीव ने ।
तब तक विषय सुख पाँच इन्द्रिय के सुहाते नित रुचें ॥३.१५॥
अन्वयार्थ : जब तक मनुष्य को उत्तमोत्तम वस्त्र, महल, कल्पवृक्ष, अमृत, कपूर, सोना, मणि, पंचमस्वर, जिनेन्द्र भगवान की वाणी और आत्मीक सुख प्राप्त नहीं होते तभी तक वह वक्कल, पत्ते का (सामान्य) घर, करीर (बबूल), कांजी, हींग, लोहा, पत्थर, निषादस्वर, कुशास्त्र और इन्द्रियजन्य सुख को उत्तम और कार्यकारी समझता है; परन्तु उत्तम-वस्त्र आदि के प्राप्त होते ही उसकी वक्कल आदि में सर्वथा घृणा हो जाती है, उनको वह जरा भी मनोहर नहीं मानता।

स्व-स्वरूप में काल व्यतीत करनेवाले विरले

केचिद् राजादिवार्तां विषयरतिकलाकीर्तिरैप्राप्तिचिंतां
संतानोद्भूत्युपायं पशुनगविगवां पालवं चान्ससेवां ।
स्वापक्रीडौषधादीन् सुरनरमनसां रंजनं देहपोषं
कुर्वंतोऽस्यंति कालं जगति च विरलाः स्वस्वरूपोपलब्धिं ॥16॥

नित अधिकतर राजादि वार्ता, विषय रति कीर्ति कला ।
पाने की चिन्ता पुत्र प्राप्ति उपाय पशु पालन सदा ॥
बहु वृक्ष पक्षी पोषणादि, अन्य सेवा औषधि ।
सेवन शयन सुर नर, मनोरंजन तनादि पुष्टि ही ॥
इत्यादि करते जगत में, जीवन बिता देते सभी ।
पर स्व स्वरूपोपलब्धि में, जीवन बिताते विरल ही ॥३.१६॥
अन्वयार्थ : संसार में अनेक मनुष्य राजादि के गुणगान कर काल व्यतीत करते हैं। कई एक विषय, रति, कला, कीर्ति और धन की चिन्ता में समय बिताते हैं और सन्तान की उत्पत्ति का उपाय, पशु, वृक्ष, पक्षी, गौ, बैल आदि बहुत से का पालन, अन्य की सेवा, शयन, क्रीड़ा, औषधि आदि का सेवन, देव, मनुष्यों के मन का रंजन और शरीर का पोषण करते-करते अपनी समस्त आयु के काल को समाप्त कर देते हैं इसलिये जिनका समय स्व-स्वरूप शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में - व्यतीत हो ऐसे मनुष्य संसार में विरले ही हैं ।

एक मात्र सदा उपयोग में रहना ही कर्तव्य

वाचांगेन हृदा शुद्धचिद्रूपोहमिति ब्रुवे ।
सर्वदानुभवामीह स्मरामीति त्रिधा भजे ॥17॥
हूँ शुद्ध चिद्रूपी सदा मैं, वचन तन मन से सतत ।
बोलूँ करूँ वेदन करूँ, स्मरण त्रय नित एक यह ॥३.१७॥
अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप के विषय में सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा मन-वचन-काय से सदा कहता हूँ तथा अनुभव और स्मरण करता हूँ ।

क्रियाओं के संबंध में स्याद्वाद शैली

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुभूतां क्रियां भजेत् ।
सुधीः कांचिच्च पूर्वं तद्ध्याने सिद्धे तु तां त्यजेत् ॥18॥
सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतुभूत कुछ क्रिया भले ।
पहले करें पर ध्यान सिद्धि बाद विज्ञ उन्हें तजें ॥३.१८॥
अन्वयार्थ : जब तक शुद्धचिद्रूप का ध्यान सिद्ध न हो सके तब तक विद्वान को चाहिये कि उसके कारण रूप क्रिया का अवश्य आश्रय लें; परन्तु उस ध्यान के सिद्ध होते ही उस क्रिया का सर्वथा त्याग कर दे ।

उदाहरण पूर्वक शुद्ध चिद्रूप के स्मरण की विधि

अंगस्यावयवैरंगमंगुल्याद्यैः परामृशेत् ।
मत्याद्यैः शुद्धचिद्रूपावयवैस्तं तथा स्मरेत् ॥19॥
ज्यों देह अवयव अंगुली, आदि से तन स्पर्श हो ।
त्यों शुद्ध चिद्रूप अंश मति आदि से उसका ध्यान हो ॥३.१९॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार शरीर के अवयव अंगुली आदि से - शरीर का स्पर्श किया जाता है, उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के अवयव जो मतिज्ञान आदि हैं उनसे उसका स्मरण करना चाहिये ॥१९॥

आत्मा की प्राप्ति का उपाय

ज्ञेये दृश्ये यथा स्वे स्वे चित्तं ज्ञातरि दृष्टरि ।
दद्याच्चेन्ना तथा विंदेत्परं ज्ञानं च दर्शनं ॥20॥
पर ज्ञेय दृश्यों में यथा, मन लगाता त्यों लगा ले ।

यदि ज्ञान दर्शन स्वयं में, तो आत्म वेदन नियम से ॥३.२०॥

अन्वयार्थ : मनुष्य जिस प्रकार घट-पट आदि ज्ञेय और दृश्य पदार्थों में अपने चित्त को लगाता है, उसी प्रकार यदि वह शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये ज्ञाता और दृष्टा आत्मा में अपना चित्त लगावे तो उसे स्वस्वरूप का शुद्ध दर्शन और ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाय ॥२०॥

शुद्ध-चित्-रूप के इच्छुक की विचार-धारा

उपायभूतमेवात्र शुद्धचिद्रूपलब्धये ।

यत् किंचित्तत् प्रियं मेऽस्ति तदर्थित्वान्न चापरं ॥21॥

जो शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति के, कारण मुझे वे प्रिय सभी ।

मैं शुद्ध चिद्रूपार्थि ही, इसके विरोधी प्रिय नहीं ॥३.२१॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को सदा - ऐसा विचार करते रहना चाहिये कि जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में कारण है वह मुझे प्रिय है; क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी हूँ और जो पदार्थ उसकी प्राप्ति में कारण नहीं है, उससे मेरा प्रेम भी नहीं है ॥२१॥

अति संक्षेप में मोक्ष के कारण

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे ।

मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥22॥

पर से पृथक् चिद्रूप केवल, शुद्ध आनन्दमयी मैं ।

जिन देशना इस अर्ध पद में, मुक्ति-हेतु ध्या इसे ॥३.२२॥

अन्वयार्थ : यह चिद्रूप अन्य द्रव्यों के संसर्गसे रहित केवल है, शुद्ध है और आनन्द स्वरूप है, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ; क्योंकि जो यह आधे श्लोक में कहा गया भगवान सर्वज्ञ का उपदेश है वह ही मोक्ष का कारण है ॥२२॥

उदाहरण द्वारा शुद्ध चिद्रूप की वार्ता के अलाभ-लाभ

बहिश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं वृथा ।

अंधस्य नर्त्तनं गानं बधिरस्य यथा भुवि ॥23॥

अंतश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं हितं ।

बुभुक्षिते पिपासार्त्तेऽन्नं जलं योजितं यथा ॥24॥

ज्यों अन्ध हेतु नृत्य, बहरे हेतु गाना व्यर्थ है ।

त्यों शुद्ध चिद्रूप वार्ता, बहि:वृत्ति हेतु व्यर्थ है ॥३.२३॥

ज्यों क्षुधित को भोजन, तृषित को जल परम हितकर लगे ।

त्यों शुद्ध चिद्रूप वार्ता, अन्तर्मुखी हर्षित करे ॥३.२४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अंधे के सामने नाचना और बहिरे के सामने गीत गाना व्यर्थ है, उसी प्रकार बहिरात्मा के सामने शुद्धचिद्रूप की कथा भी कार्यकारी नहीं है; परन्तु जिस प्रकार भूखे के लिये अन्न और प्यासे के लिये जल हितकारी है, उसी प्रकार अन्तरात्मा के सामने कहा गया शुद्धचिद्रूप का उपदेश भी परम हित प्रदान करने वाला है ॥२३-२४॥

शुद्ध-चित्-रूप प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय -- ध्यान

उपाया बहवः संति शुद्धचिद्रूपलब्धये ।

तद्ध्यानेन समो नाभूदुपायो न भविष्यति ॥25॥

इस शुद्ध चिद्रूप लब्धि के यद्यपि उपाय अनेक हैं ।

पर ध्यान सम कोई नहीं, यों ध्यान नित कर्तव्य है ॥३.२५॥

अन्वयार्थ : यद्यपि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के बहुत से उपाय हैं, तथापि उनमें ध्यानरूप चिद्रूप की तुलना करने वाला न कोई उपाय हुआ है, न है और न होगा, इसलिये जिन्हें शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति की अभिलाषा हो उन्हें चाहिये कि वे सदा उसका ही नियम से ध्यान करें ॥२५॥

शुद्ध चिद्रूप के स्मरण में आदर क्यों नहीं

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीडा परस्यापि न ।
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि
चिद्रूपस्मरणे फ लं बहु कथं तन्नाद्रियंते बुधाः ॥1॥
नहिं कष्ट धन व्यय नहीं, देशान्तर गमन नहिं प्रार्थना ।
नहिं शक्तिक्षय नहिं भय, नहीं पर क्लेश नहिं पर सुश्रुषा ॥
सावद्य नहिं नहिं रोग, जन्म मरण नहीं चिद्रूप के ।
स्मरण में फल उत्तमोत्तम, विज्ञ क्यों नहिं आदरें ॥४.१॥
अन्वयार्थ : इस परमपावन चिद्रूप के स्मरण करने में न किसी प्रकार का क्लेश उठाना पड़ता है, न धन का व्यय, देशांतर में गमन और दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है । किसी प्रकार की शक्ति का क्षय, भय, दूसरे को पीड़ा, पाप, रोग, जन्म मरण और दूसरे की सेवा का दुःख भी नहीं भोगना पड़ता, जबकि अनेक उत्तमोत्तम फलों की प्राप्ति भी होती है । अत: इस शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने में हे विद्वानों ! तुम क्यों उत्साह और आदर नहीं करते ?

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति अत्यधिक सुगम

दुर्गमा भोगभूः स्वर्गभूमिर्विद्याधरावनिः ।
नागलोकधरा चातिसुगमा शुद्धचिद्धरा ॥2॥
तत्साधने सुखं ज्ञानं मोचनं जायते समं ।
निराकुलत्वमभयं सुगमा तेम हेतुना ॥3॥
है भोग भू सुरलोक, विद्याधर धरा अहिलोक को ।
पाना कठिन अति सुलभता से शुद्ध चिद्रूप प्राप्त हो ॥४.२॥
क्योंकि सुसाधन में हि होते, जाते सुख मोचन सदा ।
सद्ज्ञान अभय निराकुलत्व, अत: चिद्रूप ध्यान सदा ॥४.३॥
अन्वयार्थ : संसार में भोग-भूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधर-लोक और नागलोक की प्राप्ति तो दुर्गम-दुर्लभ है; परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति अति-सरल है क्योंकि चिद्रूप के साधन में सुख, ज्ञान, मोचन, निराकुलता और भय का नाश ये साथ-साथ होते चले जाते हैं ।

आत्मा का निश्चय करने की पद्धति

अन्नाश्मागुरुनागफे नसदृशं स्पर्शेन तस्यांशतः
कौमाराम्रकसीसवारिसदृशं स्वादेन सर्वं वरं ।
गंधेनैव घृतादि वस्त्रसदृशं दृष्टया च शब्देन च
कर्कर्यादि च मानसेन च यथा शास्त्रादि निश्चीयते ॥4॥
स्मृत्या दृष्टनगाब्धिभूरुहपुरीतिर्यंग्नराणां तथा
सिद्धांतोक्तसुराचलहृदनदीद्वीपादिलोकस्थितेः ।
खार्थानां कृतपूर्वंकार्यविततेः कालत्रयाणामपि
स्वात्मा केवलचिन्मयोऽशकलनात् सर्वोऽस्य निश्चीयते ॥5॥

अफीम पत्थर अन्न अगरु, आदि जानें अंश के ।
स्पर्श से ईलायची जल, आम आदि स्वाद से॥
घृत आदि जानें गन्ध से, वस्त्रादि जानें आँख से ।
नित शब्द सुनने से हि जानें, झालरादि चित्त से ॥
शास्त्रादि जानें तथाहि, देखे हुए पर्वत जलधि ।
नगरी पशु नर वृक्ष आदि, शास्त्र जानें ह्रद नदी ॥४.४॥
द्वीपादि मेरु लोक स्थिति, पूर्व भोगे इन्द्रियों ।
के विषय तीनों काल के, पहले किए कुछ कार्यों ॥
इत्यादि के स्मरण मय, अंशों से पूरा आत्मा ।
चिन्मय सदा शाश्वत सकल, ज्ञाता निरन्तर जानना ॥४.५॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अन्न, पाषाण, अगरु और अफीम के समान पदार्थ के कुछ भाग के स्पर्श करने से, इलायची, आम, कसीस और जल के समान पदार्थ के कुछ अंश के स्वाद से, घी आदि के समान पदार्थ के कुछ अंश के सूंघने से, वस्त्र सरीखे पदार्थ के किसी अंश को आँख से देखने से, कर्करी (झालर) आदि के शब्द श्रवण से और मन से शास्त्र आदि के समस्त स्वरूप का निश्चय कर लिया जाता है। उसीप्रकार पहिले देखे हुये पर्वत, समुद्र, वृक्ष, नगरी, गाय, भैंस आदि तिर्यञ्च और मनुष्यों के, शास्त्रों से जाने गये मेरु ह्रद, तालाब, नदी और द्वीप आदि लोक की स्थिति के, पहिले अनुभूत इंद्रियों के विषय और किये गये कार्यों के एवं तीनों कालों के स्मरण आदि कुछ अंशों से अखण्ड चैतन्य-स्वरूप के पिंड-स्वरूप इस आत्मा का भी निश्चय कर लिया जाता है ।

शुद्ध चिद्रूप-प्राप्ति में कारणभूत स्याद्वाद-शैली

द्रव्यं क्षेत्रं च कालं च भावमिच्छेत् सुधीः शुभं ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्ति हेतुभूतं निरंतरं ॥6॥
न द्रव्येन न कालेन न क्षेत्रेण प्रयोजनं ।
के नचिन्नैव भावेन लब्धे शुद्धचिदात्मके ॥7॥
नित शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति हेतु भूत चाहे भले ही ।
शुभ द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव, सुधी सुआश्रय लें यही ॥४.६॥
पर शुद्ध चिद्रूप लब्धि होने, पर नहीं कुछ प्रयोजन ।
है द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव से, अत: निष्पृह प्रवर्तन ॥४.७॥

अन्वयार्थ : जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे उसकी प्रप्ति के अनुपम कारण शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सदा आश्रय करें; परन्तु जिस समय शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाय उस समय द्रव्य, क्षेत्र, काल के आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

शुद्ध चिद्रूप के पर्याय-वाची

परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वदृक् शिवः ।
नामानीमान्यहो शुद्धचिद्रूपस्यैव केवलं ॥8॥
परमात्मा परब्रह्म शिव, हैं सकलदृष्टा चिदात्मा ।
इत्यादि बहुविध नाम शुद्ध चिद्रूप के ही जानना ॥४.८॥

अन्वयार्थ : परमात्मा, परब्रह्म, चिदात्मा, सर्वदृष्टा और शिव, अहो ! ये समस्त नाम उसी शुद्धचिद्रूप के हैं ।

शुद्ध-चिद्रूप ही ग्राह्य

मध्ये श्रुताब्धेः परमात्मनाम-रत्नव्रजं वीक्ष्य मया गृहीतं ।
सर्वोत्तमत्वादिदमेव शुद्धचिद्रूपनामातिमहार्घ्यरत्नं ॥9॥
अपार सागर रूप जिनश्रुत में अनेकों नाममय ।
हैं रत्न परमात्मामयी, चिद्रूप शुद्ध अति उत्तम ॥४.९॥
अन्वयार्थ : जैन शास्त्र एक अपार सागर है और उसमें परमात्मा के नामरूपी अनन्त रत्न भरे हये हैं, उनमें से भले प्रकार परीक्षा कर और सबों में अमूल्य उत्तम मान यह शुद्धचिद्रूप का नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है ।

इसमें ही लीनता का हेतु

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥10॥
मैं शुद्ध चिद्रूपी बिना नहिं अन्य कुछ मेरा नहीं ।
यों जान चिन्ता व्यर्थ, सबकी छोड़ मैं स्थिर यहीं ॥४.१०॥
अन्वयार्थ : संसार में सिवाय शुद्धचिद्रूप के न तो मैं कुछ हूँ और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है इसलिये शुद्धचिद्रूप से अन्य किसी पदार्थ में मेरा चिन्ता करना वृथा है; अतः मैं शद्धचिद्रूप में ही लीन होता हूँ ।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है -- यह तथ्य अनुभव से सिद्ध

अनुभूय मया ज्ञातं सर्वं जानाति पश्यति ।
अयमात्मा यदा कर्मप्रतिसीरा न विद्यते ॥11॥
कर्मावरण जब हटे तब, यह आत्मा सब जानता ।
सब देखता ऐसा मुझे, है ज्ञात अनुभव से सदा ॥४.११॥
अन्वयार्थ : जिस समय कर्मरूपी परदा इस आत्मा के ऊपर से हट जाता है, उस समय यह समस्त पदार्थों को साक्षात् जान-देख लेता है। यह बात मुझे अनुभव से मालम पड़ती है।

कहाँ रहने का क्या फल है?

विकल्पजालजंबालान्निर्गतोऽयं सदा सुखी ।
आत्मा तत्र स्थितो दुःखीत्यनुभूय प्रतीयतां ॥12॥
विकल्पमय शेवाल में फंस, दु:ख भोगे नित्य ही ।
तज उन्हें होता आत्मस्थिर, सदा सुख अनुभूति ही ॥४.१२॥
अन्वयार्थ : जब तक यह आत्मा नाना प्रकार के संकल्प विकल्परूपी शेवाल (काई) में फंसा रहता है, तब तक यह सदा दुःखी बना रहता है -- क्षण-भर के लिये भी इसे सुख-शांति नहीं मिलती; परन्तु जब इसके संकल्प-विकल्प छूट जाते हैं; उस समय यह सुखी हो जाता है -- निराकुलतामय सुख का अनभव करने लग जाता है, ऐसा स्वानुभव से निश्चय होता है ।

अनन्त बल-शालिता की भी अनुभव-गोचरता

अनुभूत्या मया बुद्धमयमात्मा महाबली ।
लोकालोकं यतः सर्वमंतर्नयति केवलः ॥13॥
अनुभूत है यह मुझे केवल आत्मा है महाबली ।
सम्पूर्ण लोकालोक अपने में समा लेता सभी ॥४.१३॥
अन्वयार्थ : यह शुद्ध चेतन्यस्वरूप आत्मा अचिंत्य शक्ति का धारक है, ऐसा मैंने भले प्रकार अनुभव कर जान लिया है; क्योंकि यह अकेला ही समस्त लोक-अलोक को अपने में प्रविष्ट कर लेता है।

आत्मा कर्म से आच्छादित

स्मृतिमेति यतो नादौ पश्चादायाति किंचिन ।
कर्मोदयविशेषोऽयं ज्ञायते हि चिदात्मनः ॥14॥
विस्फुरेन्मानसे पूर्वं पश्चान्नायाति चेतसि ।
किंचिद्वस्तु विशेषोऽयं कर्मणः किं न बुध्यते ॥15॥
स्मरण करने पर नहीं, तत्काल होती स्मृति ।
पश्चात् कुछ स्मरण चिन्मय के दशा कर्मोदयी ॥४.१४॥
स्मृत हुआ विस्मृत पुन: हो, पुन: स्मृत हो नहीं ।
यह कर्म की ही तीव्रता, यों आत्मा है बँधा ही ॥४.१५॥

अन्वयार्थ : यदि यह चैतन्य-स्वरूप आत्मा किसी पदार्थ का स्मरण करता है तो पहिले वह पदार्थ उसके ध्यान में जल्दी प्रविष्ट नहीं होता; परन्तु एकाग्र हो जब यह बार-बार ध्यान करता है तब उसका कुछ-कुछ स्मरण हो आता है। इसलिये इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह आत्मा कर्म से आवृत है। तथा पहिले-पहिले यदि किसी पदार्थ का स्मरण भी हो जाय तो उसके जरा ही विस्मरण हो जाने पर फिर बार-बार स्मरण करने पर भो उसका स्मरण नहीं आता, इसलिये आत्मा पर कर्मों की माया जान पड़ती है अर्थात् आत्मा कर्म के उदय से अवनृत है यह स्पष्ट जान पड़ता है।

सर्वाधिक सरल और सर्वोत्तम फलदाइ कार्य

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥16॥
स्वाधीन होने से सभी कार्यों में शुद्ध चिद्रूप का ।
ही ध्यान सहज सुसाध्य, इह पर-लोक सुख साधन सदा ॥४.१६॥

अन्वयार्थ : संसार के समस्त कार्यों में शुद्धचिद्रूप का चिंतन, मनन व ध्यान करना ही सुखसाध्य-सुख से सिद्ध होनेवाला है; क्योंकि यह निजाधीन है। इसकी सिद्धि में अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती और इससे इस लोक और परलोक दोनों लोकों में निराकुलतामय सुख की प्राप्ति होती है ।

प्रोद्यन्मोहाद् थया लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत् ।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा ॥17॥
ज्यों मोह-वश धन स्त्री आदि में रमता मन सदा ।
त्यों स्वयं के चिद्रूप में रम, शीघ्र ही मुक्ति दशा ॥४.१७॥

अन्वयार्थ : मोह के उदय से मत्त जीव का मन जिस प्रकार संपत्ति और स्त्रियों में रमण करता है, उसीप्रकार यदि वही मन (उनसे उपेक्षा कर) शुद्धचिद्रूप की ओर झुके -- उससे प्रेम करे, तो देखते-देखते ही इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ।

इस कार्य को नहीं करनेवालों के लिए उलाहना

विमुच्य शुद्धचिद्रूपचिंतनं ये प्रमादिनः ।
अन्यत् कार्यं च कुर्वंति ते पिबंति सुधां विषं ॥18॥
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान तज, जो प्रमादी अन्य कार्य को ।
करते वे पीते हैं जहर, जिवनार्थ तजकर सुधा को ॥४.१८॥

अन्वयार्थ : जो आलसी मनुष्य सुख-दुःख और उनके कारणों को भले प्रकार जानकर भी प्रमाद के उदय से शुद्ध-चिद्रूप की चिंता छोड़ अन्य कार्य करने लग जाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करते हैं । इसलिये तत्त्वज्ञों को शुद्धचिद्रूप का सदा ध्यान करना चाहिये ।

किसका क्या फल है?

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥19॥
नित आकुलित हो विषय सेवन में सदा दुख भोगता ।
नित निराकुलता से सुखी, चिद्रूपवेदी भोगता ॥४.१९॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियों के विषय भोगने में जीवों का चित्त सदा व्याकुल बना रहता है, इसलिये उन्हें अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं । शुद्ध-चिद्रूप के अनुभव में किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती, इसलिये उसकी प्राप्ति से जीवों का परम कल्याण होता है ।

रागादि नष्ट हुए बिना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान नहीं

रागद्वेषादिजं दुःखं शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।
याति तच्चिंतनं न स्याद् यतस्तद्गमनं विना ॥20॥
नित शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, दुख राग द्वेषादिज मिटें ।
वे क्योंकि नष्ट हुए बिना, चिद्रूप ध्यान न हो सके ॥४.२०॥

अन्वयार्थ : राग-द्वेष आदि के कारण से जीवों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; परन्तु शुद्धचिद्रूप का स्मरण करते ही वे पलभर में नष्ट हो जाते हैं -- ठहर नहीं सकते; क्योंकि बिना रागादि के दूर हुये शुद्धचिद्रूप का ध्यान ही नहीं हो सकता ।

शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन का फल

आनन्दो जायतेत्यंतः शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
निराकुलत्वरूपो हि सतां यत्तन्मयोऽस्त्यसौ ॥21॥
हो शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, आनन्द अति ही निराकुल ।
ध्याता को क्योंकि वह सदा, स्व भाव से ही निराकुल ॥४.२१॥

अन्वयार्थ : निराकुलतारूप (किसी प्रकार की आकुलता न होना) आनंद है और इस आनंद की प्राप्ति सज्जनों को शुद्धचिद्रूप के ध्यान से ही हो सकती है; क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप आनंद-मय है -- आनंदमय पदार्थ इससे भिन्न नहीं है ।

उदाहरण पूर्वक कारण के अनुसार कार्य

तं स्मरन् लभते ना तमन्यदन्यच्च केवलं ।
याति यस्य पथा पांथस्तदेव लभते पुरं ॥22॥
जिस मार्ग चलता पथिक, वह उस नगर को ही प्राप्त हो ।
त्यों आत्मध्यान से आत्मा, धन आदि से धन प्राप्त हो ॥४.२२॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पथिक मनुष्य जिस गांव के मार्ग को पकडकर चलता है वह उसी गांव में पहुँच जाता है, अन्य गांव के मार्ग से चलनेवाला अन्य गाँव में नहीं। उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है, वह शुद्धचिद्रूप को प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थों की आराधना करता है, वह उनकी प्राप्ति करता है; परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि अन्य पदार्थों का ध्यान करे और शुद्ध-चिद्रप को पा जाय ।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति किसे होती है?

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोंऽगिनां ।
तज्जयेऽत्यंत सुगमा क्रियाकांडविमोचनात् ॥23॥
है मोहियों को महा-दुर्लभ, शुद्ध चिद्रूप भोगना ।

पर मोह-विजयी तपादि बिन भी उसे ही भोगता ॥४.३३॥

अन्वयार्थ : यह मोहनीय कर्म महाबलवान है। जो जीव इसके जाल में जकड़े हैं उन्हें शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति दुःसाध्य है और जिन्होंने इसे जीत लिया है उन्हें तप आदि क्रियाओं के बिना ही सुलभता से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है ।

पहले क्या-क्या किया और क्या-क्या नहीं किया?

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातूपलानां
स्त्रीभाश्वानां नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानां ।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान् विशदमतितया ज्ञातवान् प्रायशोऽहं
शुद्धचिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित् ॥1॥
सब रत्न औषधि वस्त्र अन्न रोग धातु घृतादि रस ।
पाषाण स्त्री पशु नर, जलचर खगादि गो महिष ॥
इत्यादि बहुविध पदार्थों के, नाम काम प्रयोजन ।
सब प्राप्ति स्थल विशद धी से, ज्ञात प्राय: मुझे सब ॥
ये सभी जानें पूर्व में, पर शुद्ध चिद्रूप मात्र ही ।
जो नित्य आत्मिक स्वयं ही, उसको नहीं जाना कभी ॥५.१॥

अन्वयार्थ : मैंने पहिले कई बार रत्न, औषधि, वस्त्र, घी आदि रस, रोग, अन्न, सोना-चांदी आदि धातु, पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोड़े, मनुष्य, मगरमच्छ आदि जल के जीव, पक्षी और गाय-भैंस आदि पदार्थों के नाम, उत्पत्ति, मूल्य और प्रयोजन भले प्रकार अपनी विशद्-बुद्धि से जान-सुन लिये हैं; परन्तु जो निज शुद्धचिद्रूप नित्य है, आत्मिक है -- उसे आज तक कभी पहिले नहीं जाना है ।

उपर्युक्त कार्य नहीं कर पाने का कारण

पूर्वं मया कृतान्येव चिंतनान्यप्यनेकशः ।
न कदाचिन्महामोहात् शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥2॥
सब पूर्व में मैंने किया, बहुबार चिन्तन अन्य का ।
पर मोह-वश नहिं कर सका, इक ध्यान शुध चिद्रूप का ॥६.२॥

अन्वयार्थ : पहिले मैंने अनेक बार अनेक पदार्थों का मनन (ध्यान) किया है परन्तु पुत्र-स्त्री आदि के मोह से मूढ़ हो, शुद्ध चिद्रूप का कभी आज तक चिंतवन न किया ।

मरण-काल में भी इसका स्मरण नहीं किया

अनंतानि कृतान्येव मरणानि मयापि न ।
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतं ॥3॥
मैंने अनन्तों बार मरण, अनन्त भव में हैं किए ।
'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' नहीं ध्याया मरण के काल में ॥५.३॥

अन्वयार्थ : मैं अनन्त बार अनन्त भवों में मरा; परन्तु मृत्यु के समय 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण कर कभी न मरा ।

इस शुद्ध-चिद्रूप को आज तक प्राप्त नहीं किया

सुरद्रुमा निधानानि चिंतारत्नं द्युसद्गवी ।
लब्धा च न परं पूर्वं शुद्धचिद्रूपसंपदा ॥4॥
चिन्तामणि सुरतरु सुरधेनु निधान विविध विभव ।
पाए परन्तु नहीं पाया, शुद्ध चिद्रूपी विभव ॥५.४॥

अन्वयार्थ : मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणि-रत्न और कामधेनु आदि लोकोत्तर अनन्य विभूतियाँ प्राप्त कर लीं; परन्तु अनुपम शुद्धचिद्रूप नाम की संपत्ति आज तक कभी नहीं पाई ।

इसी अप्राप्ति पर पुन: खेद

द्रव्यादिपंचथा पूर्वं परावर्त्ता अनंतशः ।

कुतास्तेष्वेकशो न स्वं स्वरूपं लब्धवानहं ॥5॥

द्रव्यादि पाँचों परावर्तन, किए पूरे अनन्तों ।

पर स्व स्वरूपोपलब्धि की नहिं कभी अत्याश्चर्य हो ॥५.५॥

अन्वयार्थ : मैंने अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण किया । इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव नामक पांचों परिवर्तन भी अनेक बार पूरे किये; परन्तु स्व-स्वरूप शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति मुझे आज तक एक बार भी न हुई ।

इन्द्रादीनां पदं लब्धं पूर्वं विद्याधरेशिनां ।

अनंतशोऽहमिंद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलं ॥6॥

पाए अनेकों बार विद्याधरेशों इन्द्रादि के ।

अहमिन्द्र के पद भी परन्तु स्व स्वरूप न पा सके ॥५.६॥

अन्वयार्थ : मैंने पहिले अनेक बार इन्द्र, नृपत्ति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये । अनन्तबार विद्याधरों का स्वामी और अहमिन्द्र भी हुआ; परन्तु आत्मिकरूप-शुद्ध-चिददूप का लाभ न कर सका ।

मोह-शत्रु को आज तक नहीं जीता

मध्ये चतुर्गतीनां च बहुशो रिपवो जिताः ।

पूर्वं न मोहप्रत्यर्थी स्वस्वरूपोपलब्धये ॥7॥

बहु बार चारों गति के, बहु रिपु जीते पर नहीं ।

जीता स्वरूपोपलब्धि-घातक, मोह को मैंने कभी ॥५.७॥

अन्वयार्थ : नरक, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव -- चारों गतियों में भ्रमणकर मैंने अनेकबार अनेक शत्रुओं को जीता; परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये उसके विरोधी महाबलवान मोहरूपी बैरी को कभी नहीं जीता ।

शुद्ध चिद्रूप की अस्वीकृति

मया निःशेषशास्त्राणि व्याकृतानि श्रुतानि च ।

तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृतं तीव्रमोहिना ॥8॥

बहु शास्त्र भी बहुबार समझे, सुने, विश्लेषित किए ।

अति मोह-वश पर नहीं माना, शुद्धरूप वहीं कहे ॥५.८॥

अन्वयार्थ : मैंने संसार में अनंतबार कठिन से कठिन भी संपूर्ण शास्त्रों का व्याख्यान किया, अर्थ किया और बहुत से शास्त्रों का श्रवण भी किया; परन्तु मोह से मूढ़ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूप का वर्णन है, उसे कभी स्वीकार न किया ।

वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थितः ।

न लब्धं शुद्धचिद्रूपं तत्रापि भ्रमतो निजं ॥9॥

बहु वृद्ध सेवा की, रहा विद्वद सभाओं में सदा ।

घ्रा वहाँ पर शुद्ध चिद्रूप, को नहीं मैं पा सका ॥५.९॥

अन्वयार्थ : इस संसार में भ्रमण कर मैंने कई बार वृद्धों की सेवा की व विद्वानों की बड़ी-बड़ी सभाओं में भी बैठा; परन्तु अपने निज शुद्धचिद्रूप को कभी मैंने प्राप्त नहीं किया ।

मानुष्यं बहुशो लब्धमार्ये खंडे च सत्कुलं ।
आदिसंहननं शुद्धचिद्रूपं न कदाचन ॥10॥
बहुबार उत्तम संहनन, नर, आर्य खण्ड कुलीन भी ।
हो नहीं पाया शुद्ध चिद्रूप, एक स्वयं स्वभाव ही ॥५.४॥
अन्वयार्थ : मैं आर्य-खंड में बहुतबार मनुष्य हुआ, कई बार उत्तम-कुल में भी जन्म पाया; वज्रवृषभनाराच संहनन भी कई बार पाया; परन्तु शुद्धचिद्रूप की मुझे कभी भी प्राप्ति न हुई ।

शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान-बिना मैंने क्या-क्या धारण किया

शौचसंयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतरा धृतवानहं ॥11॥
बहु बार संयम शौच, दुर्धर तपादि शीलादि भी ।
धारे नहीं ध्याया यही, चिद्रूप शुध बस एक ही ॥५.११॥
अन्वयार्थ : मैंने अनंतबार शौच, संयम व शीलों को धारण किया, भांति-भांति के घोरतम तप भी तपे; परन्तु शुद्धचिद्रूप का कभी ध्यान नहीं किया ।

सभी पर्यायों को धारण कर भी इस शुद्ध-चिद्रूप को नहीं जाना

एकेंद्रियादिजीवेषु पर्यायाः सकला धृताः ।
अजानता स्वचिद्रूपं परस्पर्शादिजानता ॥12॥
इस जीव ने एकेन्द्रियादि, सभी पर्यायें धरीं ।
स्पर्श आदि अन्य के, जाने न जाना चिन्मयी ॥५.१२॥
अन्वयार्थ : मैं अनेक बार एकेंद्रिय, दो-इंद्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हुआ । एकेन्द्रिय आदि में वृक्ष आदि अनंत पर्यायों को धारण किया, दूसरे के स्पर्श, रस, गंध आदि को भी जाना; परन्तु स्व-स्वरूपचिद्रूप को आज तक न पाया, न पहिचाना ।

पुन: खेदित चित्त से इसे ही व्यक्त करते हैं

ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं सचेतनमचेतनं ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं न कदाचिच्च केवलं ॥13॥
सब अचेतन चेतन सभी, जाने हैं देखे पर कभी ।
स्वकीय शुद्ध चिद्रूप केवल, एक जाना है नहीं ॥५.१३॥
अन्वयार्थ : मैंने संसार में चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को भले प्रकार देखा-जाना; परन्तु केवल शुद्धचिद्रूप नामक एक पदार्थ को कभी मैंने न जाना न देखा ।
लोकज्ञाति श्रुतसुरनृपति श्रेयसां भामिनीनां
यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां ज्ञातवान् प्रायशोऽहं ।
क्षेत्रादीनामशकलोजगतो वा स्वभावं च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा संसृतौ तीव्रमोहात् ॥14॥
सब लोक ज्ञाति शास्त्र सुर, नरपति विभव कल्याण भी ।
मुनि आदि नारी प्रवृत्ति, नदि क्षेत्र पर्वत आदि भी ॥
सम्पूर्ण जगत स्वभाव, अंशों की अनेकों विविधता ।
जानी न जाना मोह से, 'चिद्रूप ध्रुव मैं' यथार्थता ॥५.१४॥

अन्वयार्थ : संसार में लोक, ज्ञाति, शास्त्र, देव और राजाओं की विभूतियों को, कल्याण, स्त्रियों और मुनि आदि के समस्त व्यवहार को कई बार मैंने जाना; क्षेत्र, नदी, पर्वत आदि खंड और समस्त जगत के स्वभाव को भी पहिचाना परन्तु मोह की तीव्रता से 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' इस बात को मैं निश्चय रूप से कभी न जान पाया ।

मैं कहाँ-कहाँ बैठा? पर कहाँ नहीं बैठ पाया?

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधः ।
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि ॥15॥
अति शीत में सर तीर, तरुतल बहुत वर्षा में रहा ।
अति ग्रीष्म पर्वत चोटिओं पर, नहिं चिदातम में रहा ॥५.१५॥

अन्वयार्थ : बहुत बार मैं शीतकाल में नदी के किनारे, वर्षा-काल में वृक्ष के नीचे और ग्रीष्म-ऋतु में पर्वत की चोटियों पर स्थित हुआ; परन्तु अपने चैतन्य-स्वरूप आत्मा में मैंने कभी स्थिति न की ।

शुद्ध स्वरूप को नहीं जानने के कारण मैंने क्या-क्या किया?

विहितो विविधोपायैः कायक्लेशो महत्तमः ।
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं स्वस्वरूपमजानता ॥16॥
स्वर्गादि इच्छा से किए, बहुविध प्रयत्नों से महा ।
नित काय क्लेश स्वरूप, शुध चिद्रूप निज नहिं जानता ॥५.१६॥

अन्वयार्थ : 'मुझे स्वर्ग आदि सुख की प्राप्ति हो' इस अभिलाषा से मैंने अनेक प्रयत्नों से घोरतम भी काय-क्लेश तप भी तपे परन्तु शुद्धचिद्रूप की ओर जरा भी ध्यान न दिया - स्वर्ग चक्रवर्ती आदि के सुख के सामने मैंने शुद्धचिद्रूप सुख को तुच्छ समझा ।

अधीतानि च शास्त्राणि बहुवारमनेकशः ।
मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकं ॥17॥
बहुबार बहुविध शास्त्र भी, पढ़ लिए पर अति मोह से ।
'मैं शुद्ध चिद्रूपी' निरूपक, शास्त्र नहीं कभी पढ़े ॥५.१७॥

अन्वयार्थ : मैंने बहुत बार अनेक शास्त्रों को पढ़ा परन्तु मोह से मत्त हो शुद्धचिद्रूप का स्वरूप समझानेवाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया ।

इसे बतानेवाले गुरु भी नहीं मिले

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः ।
लब्धो मन्ये कदाचितं विनाऽसौ लभ्यते कथं ॥18॥
स्वरूप चिद्रूप शुद्ध प्रतिपादक गुरु भी नहिं मिले ।
यह मान उनके बिना कैसे, स्व स्वरूप मुझे मिले? ॥५.१८॥

अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले आज तक मुझे कोई गुरु नहीं मिले और जब गुरु ही कभी नहीं मिले तब शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो ही कैसे सकती थी ?

मैंने अभी तक क्या किया?

सचेतने शुभे द्रव्ये कृता प्रीतिरचेतने ।
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया ॥19॥
अति मोह से चेतन अचेतन, द्रव्य शुभ में प्रीति की ।
स्वकीय चिद्रूप शुद्ध में, पर नहीं प्रीति की कभी ॥५.१९॥

अन्वयार्थ : अतिशय मोही होकर मैंने सजीव व अजीव शुभ-द्रव्यों में प्रीति की, परन्तु आत्मिक शुद्धचिद्रूप में कभी प्रेम न किया ।

शुद्धात्मा का चिन्तन भी मैंने पहले नहीं किया

दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च ।
बहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिंतनं ॥20॥
दुष्कर शुभाशुभ कार्य मैंने, किए बहुविध पर कभी ।
नहिं किया शुद्ध चिद्रूप चिन्तन, नहीं उसका ध्यान भी ॥५.२०॥
अन्वयार्थ : इस संसार में मैंने कठिन से कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये परन्तु आजतक शुद्धचिद्रूप की कभी चिंता न की ।

पूर्व कृत सभी कार्य अब मुझे कैसे लग रहे हैं?

पूर्वं या विहिता क्रिया किल महामोहोदयेनाखिल
मूढत्वेन मयेह तत्र महतीं प्रीतिं समातन्वता ।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मंदमोहस्य मे
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतोधिग् विमोहोदयं ॥21॥
हैं महा मोहोदय-वशी हो, महा प्रीतिकर किए ।
मैंने यहाँ सब मूढ़ता से, जहर वत् अब लगें वे॥
चिद्रूप में रत मन्द मोही, सभी में अब निष्पृही ।
इस मोह उदयी दशा को धिक्कारता मन नित्य ही ॥५.२१॥
अन्वयार्थ : सांसारिक बातों में अतिशय प्रीति को करानेवाले मोहनीय कर्म के उदय से मूढ़ बन जो मैंने पहिले समस्त कार्य किये हैं, वे इस समय मुझे विष सरीखे दुःखदायी जान पड़ रहे हैं; क्योंकि इस समय मैं शुद्धचिद्रूप में लीन हो गया हूँ। मेरा मोह मंद हो गया है और सब बात से मेरी इच्छा हट गई है, इसलिये इस मोहनीय कर्म के उदय के लिये सर्वथा धिक्कार है ।

ऐसा क्यों हुआ

व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां वृंदैरापूरितो भृशं ।
लब्धस्तेनावकाशो न शुद्धचिद्रूप चिंतने ॥22॥
अव्यक्त व्यक्त विकल्प बहुविध से सहित मुझको कभी ।
इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतु, समय भी मिलता नहीं ॥५.२२॥
अन्वयार्थ : व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के विकल्पों से मैं सदा भरा रहा, इसलिये आज तक मुझे शुद्धचिद्रूप के चिंतवन करने का कभी भी अवकाश नहीं मिला ।

अन्य मुझे कैसा देखते हैं और मैं कैसा हूँ

जानंति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा
मग्नं भूरि परीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितं ।
मृत्यासन्नतया गतं विकृतितां चेद् भ्रांतिमंतं परे
चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचनं जानंतु मामंगिनः ॥1॥
सब समझ पागल ग्रह पिशाचों से ग्रसित रोगी विकल ।
बहु परिषहों से जरा युत, आसन्नमरणी ज्ञान बिन ॥
नित भ्रमित सब मानों भले, पर मैं नहीं ऐसा कभी ।
मैं शुद्ध चिद्रूपी श्रुति के, दृढ़ वचन मानूँ यही ॥६.१॥
अन्वयार्थ : चिद्रूप की चिन्ता में लीन मुझे, अनेक मनुष्य बावला, खोटे ग्रहों से और पिशाचों से ग्रस्त, रोगों से पीड़ित, भांति-भांति के

परीषहों से विकल, बुड्ढा, बहुत जल्दी मरनेवाला होने के कारण विकृत और ज्ञान-शून्य हो घूमनेवाला जानते हैं सो जानो परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ क्योंकि मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्ध-चित्स्वरूप हूँ ।

भेद-विज्ञानी को जगत कैसा लगने लगता है?

उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं
निश्चिंतं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत् ।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद् भाति भेदज्ञचित्ते ॥2॥
भेदज्ञ मन में लगे सब, शुद्धात्म दृष्टि हीन जग ।
उन्मत्त भ्रान्तियुक्त अन्धा दिग्विमूढ़ी बालवत् ॥
हो सुप्त मूर्छित जल प्रवाह, बहे पराधिन बावला ।
मोह धूर्त से व्याकुल सतत, सेवक बना पीड़ित महा ॥६.२॥

अन्वयार्थ : जिस समय स्व और पर का भेद-विज्ञान हो जाता है उस समय शुद्धात्म दृष्टि से रहित यह जगत चित्त में ऐसा जान पड़ने लगता है मानों यह उन्मत्त और भ्रान्त है । इसके दोनों नेत्र बन्द हो गये हैं यह दिग्विमूढ़ हो गया है । गाढ़ निद्रा में सो रहा है । मन रहित असैनी मूर्च्छा से बेहोश और जल के प्रवाह में बहा चला जा रहा है । बालक के समान अज्ञानी है। मोहरूपी धूर्तों ने व्याकुल बना दिया है । बावला और अपना सेवक बना लिया है ।

शुद्ध-चिद्रूप की उदाहरण द्वारा स्पष्टीकारण

स्त्रीणां भर्त्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः ।
कासाराद्यब्धराणाममृतमिव नृणां वा निजौकः सुराणां
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा ॥3॥
ज्यों सती को नित पति, बलभद्र को हरी भू भूपति ।
स्व वत्स धेनु, मेघ चातक, चक्रवाकों को रवि॥
नित जलचरों को सर मनुज को सुधा सुर को स्वर्ग घर ।
अति रोगिओं को वैद्य, अतिप्रिय मुझ मनस्थ चिद्रूप यह ॥६.३॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार स्त्रियों को अपना स्वामी, बलभद्रों को नारायण, राजाओं को पृथ्वी, गौओं को बछड़े, चकवियों को सूर्य, चातकों को मेघ का जल, जलचर आदि जीवों को तालाब आदि, मनुष्यों को अमृत, देवों को स्वर्ग और रोगियों को वैद्य अधिक प्यारा लगता है उसीप्रकार मुझे शुद्धचिद्रूप का नाम परम प्रिय मालम होता है इसलिये मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्धचिद्रूप सदा मेरे हृदय में विराजमान रहे ।

शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के समय सभी प्रसंग अप्रभावी

शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं बधं ताडनं
छेदं भेदगदादिहास्यदहनं निदाऽऽपदापीडनं ।
पव्यग्न्यब्ध्यगपंककूपवनभूक्षेपापमानं भयं
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरमब्रह्मस्मृतावन्वहं ॥4॥
मैं जब परम ब्रम्ह शुद्ध, चिद्रूप लीन तब कोई नहीं ।
मेरा बुरा कर सके कोई, श्राप वध ताड़न नहीं ॥

वस्तु हरण, भेदन व छेदन, रोग आदि हास्य भी ।
निन्दा विपत्ति कष्ट कोई, वज्र अग्नि जलनिधि ॥
कीचड़ कुँआ वन पर्वतादि फेंक कर अपमान भय ।
पैदा करें पर नहीं कुछ भी बुरा हो चिन्मय स्वयं ॥६.४॥

अन्वयार्थ : जिस समय मैं शुद्धचिद्रूप के चिंतवन में लीन होऊँ उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरंतर शाप देवें - दो, मेरी चीज चुरायें - चुराओ, मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करें, ताडें, छेंदें, मेरे रोग उत्पन्न कर हँसी करें, जलावें, निन्दा करें, आपत्ति और पीड़ा करें - करो, सिर पर वज्र डालें - डालो, अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कुँआ, वन और पृथ्वी पर फेंके - फेंको: अपमान और भय करें - करो, मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता ।

मुझे शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण सतत रहो

चंद्रार्कभ्रमवत्सदा सुरनदीधारौधसंपातव-
ल्लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद् द्रव्यस्य पर्यायवत् ।
लोकाधस्तलवातसंगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्
चिद्रूपस्मरणं निरंतरमहो भूयाच्छिवाप्त्यैमम् ॥5॥
शिव-प्राप्ति-हेतु मैं सदा, चिद्रूप स्थिर रहूँ ही ।
ज्यों चन्द्र सूर्य भ्रें सतत, गंगा बहे घंटा घड़ी॥
व्यवहार काल सदैव बदले, द्रव्य की पर्यायवत् ।
नित अधस्तल जग तीन वायु भ्रमें कमलोत्पत्ति सर ॥६.४॥

अन्वयार्थ : जित् प्रकार संसार में सूर्य-चन्द्रमा निरंतर घूमते रहते हैं, गंगा नदी की धार निरंतर बहती रहती है, घंटा, घड़ी, पल आदि व्यवहार-काल का भी सदा हेर फेर होता रहता है, द्रव्यों की पर्यायें सदा पलटती रहती हैं, लोक के अधो-भाग में घनवात, तनुवात और अंबुवात ये तीनों वातें सदा घूमती रहती हैं और तालाब आदि में पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते हैं, अहो ! उसीप्रकार मेरे मन में भी सदा शुद्धचिद्रूप का स्मरण बना रहे जिससे मेरा कत्याण हो ।

इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु ।
द्रव्यतो भावतस्तावद् यावदंगे स्थितिर्मम ॥6॥
मुझ द्रव्य से या भाव से, जब तक है तन में स्थिति ।
'मैं शुद्ध चिद्रूपी हि हूँ', यह रहे मन में नित्य ही ॥६.६॥

अन्वयार्थ : जब तक मैं (आत्मा) द्रव्य या भाव किसी रीति से इस शरीर में मौजूद हूँ, तब तक मेरे हृदय-कमल में शुद्धचिद्रपोऽहं (मैं शुद्धचित्स्वरूप हुँ) यह बात सदा स्थित रहे ।

अपनी परिणति का विश्लेषण

दृश्यंतेऽतीव निःसाराः क्रिया वागंगचेतसां ।
कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता ॥7॥
मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ सदा, इस ध्यान से कृतकृत्यता ।
से लगे तन मन वचन की, सब क्रिया में नि:सारता ॥६.७॥

अन्वयार्थ : मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ - संसार में मुझे करने के लिये कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूप के चिंतवन में दत्तचित्त हूँ इसलिये मन, वचन और शरीर की अन्य समस्त क्रियायें मुझे अत्यन्त निस्सार मालूम पड़ती हैं ।

इसे ही प्रति-समय नमन करने का कारण

किंचित्कदोत्तमं क्वापि न यतो नियमान्नमः ।
तस्मादनंतशः शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणं ॥8॥
इस शुद्ध चिद्रूप से अधिक, कोई कहीं कुछ भी नहीं ।
यों मान प्रतिक्षण नमन करता, अनन्तों नित उसे ही ॥६.८॥
अन्वयार्थ : किसी काल और देश में शुद्धचिद्रूप से बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है - ऐसा मुझे पूर्ण निश्चय है, इसलिये मैं इस शुद्धचिद्रूप के लिये प्रति-समय अनन्तबार नमस्कार करता हूँ ।

शेष सब क्षणिक; अत: ध्रुव चिद्रूप का ही स्मरण करो;

बाह्यांतः संगमंगं नृसुरपतिपदं कर्मबंधादिभावं
विद्याविज्ञानशोभाबलभवखसुखं कीर्तिरूपप्रतापं ।
राज्यागाख्यागकालास्रवकुपरिजनं वाग्मनोयानधीद्धा-
तीर्थेशत्वं ह्यनित्यं स्मर परमचलं शुद्धचिद्रूपमेकं ॥9॥
सब बाह्य अन्त: संग नर, सुरपती पद बन्धादि सब ।
कर्मों के शोभा बल वचन, विज्ञान विद्या विषय सुख ॥
यश रूप राज्य प्रताप पर्वत, वृक्ष नाम समय हृदय ।
आस्रव धरा परिवार वाहन, बुद्धि दीप्ति तीर्थंकर ॥
इत्यादि बहुविध वस्तुएं, संयोग आदि क्षणिक हैं ।
यह एक शुद्ध चिद्रूप परम अचल सुखी ध्या नित्य मैं ॥६.९॥
अन्वयार्थ : बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह, शरीर, सुरेन्द्र और नरेंद्र का पद, कर्मबन्ध आदि भाव, विद्या, विज्ञान-कला-कौशल, शोभा, बल, जन्म, इन्द्रियों का सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, वृक्ष, नाम, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन, वाहन, बुद्धि, दीप्ति और तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं; परन्तु केवल शुद्ध-चिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है, इसलिये सब पदार्थों का ध्यान छोड़कर इसी का ध्यान करो ।

करने-योग्य कार्य क्या है?

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥10॥
वस्तु नहीं अच्छी बुरी, यों करो रागादि नहीं ।
निज शुद्ध चिद्रूप जान, उसमें निराकुल रह लीन भी ॥६.१०॥
अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप के स्वरूप को भले-प्रकार जानकर भले-बुरे किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष आदि न करो; सब में समता भाव रखो और निराकुल हो अपनी आत्मा में स्थिति करो ।

सम्पूर्ण जिनागम का सार

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥11॥
मैं शुद्ध चिद्रूपी अत:, यह देख हूँ नित ही सुखी ।
यह जिनागम का सार, हो भव नाश यह हित शिवमयी ॥६.११॥
अन्वयार्थ : 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' इसलिये मैं उसको देखता हूं और उसी से मुझे सुख मिलता है । जैन शास्त्र का भी यही निचोड़ है। उसमें भी यही बात बतलाई है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से संसार का नाश और हितकारी मोक्ष प्राप्त होता है ।

'स्वस्थ' की परिभाषा

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥12॥
जब शुद्ध नित्यानन्दमय, चिद्रूप में स्थिर रहे ।
तब स्वस्थ है वह एक ही, नित यों कहें परमार्थ से ॥६.१२॥

अन्वयार्थ : आत्मा स्वस्थ-स्वरूप उसी समय कहा जाता है जबकि वह सदा आनन्दमय केवल अपने शुद्धचिद्रूप में स्थिति करता है ।

इस संबंध में अपनी भावना

निश्चलः परिणामोऽस्तु स्वशुद्धचिति मामकः ।
शरीरमोचनं यावदिव भूमौ सुराचलः ॥13॥
भू पर अचल नित मेरु सम, निज शुद्ध चिन्मय में अचल ।
जब तक न छूटे तन, रहे परिणति मेरी सुनिश्चल ॥६.१३॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पृथ्वी में मेरु पर्वत निश्चलरूप से गढ़ा हुआ है जरा भी उसे कोई हिला-डुला नहीं सकता उसीप्रकार मेरी भी यही कामना है कि जब तक इस शरीर का संबंध नहीं छुटता तब तक इसी आत्मिक शुद्धचिद्रूप में मेरा भी परिणाम निश्चलरूप से स्थित रहे, जरा भी इधर उधर न भटके ।

सदा परिणतिर्मेऽस्तु शुद्धचिद्रूपकेऽचला ।
अष्टमीभूमिकामध्ये शुभा सिद्धशिला यथा ॥14॥
ज्यों आठवीं भू में सुशुभ, सिद्धी शिला मुझ परिणति ।
निज शुद्ध चिद्रूप में रहे निश्चल सुथिर संतुष्ट भी ॥६.१४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार आठवीं पृथ्वी मोक्ष में, अत्यन्त शुभ सिद्धशिला निश्चलरूप से विराजमान है उसीप्रकार मेरी परिणति भी इस शुद्धचिदूप में निश्चलरूप से स्थित रहे ।

यथार्थ मुनिराजों की परिणति

चलंति सन्मुनीन्द्राणां निर्मलानि मनांसि न ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात् सिद्धक्षेत्राच्छिवा यथा ॥15॥
ज्यों हितमयी सिद्ध क्षेत्र से, नहिं चलें सिद्ध मुनीन्द्र का ।
निर्मल हृदय निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान से अविचल तथा ॥६.१५॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कल्याणकारी सिद्धक्षेत्र से सिद्ध भगवान् किसी रीति से चलायमान नहीं होते उसी प्रकार उत्तम मुनियों के निर्मल मन भी शुद्धचिद्रूप के ध्यान से कभी चल-विचल नहीं होते ।

मुनिराजों की दृढ़ परिणति का कारण

मुनीश्वरैस्तथाभ्यासो दृढः सम्यग्विधीयते ।
मानसं शुद्धचिद्रूपे यथाऽत्यंतं स्थिरीभवेत् ॥16॥
'मैं शुद्ध चिद्रूप' में सदा, अभ्यास करते मुनीश्वर ।
अत्यन्त स्थिर दृढ़ अचल मन से यही ध्या नहिं अथिर ॥६.१६॥

अन्वयार्थ : मुनिगण इस रूप से शुद्धचिद्रूप के ध्यान का दृढ़ अभ्यास करते हैं कि उनका मन शुद्धचिद्रूप के ध्यान में सदा निश्चलरूप से स्थित बना रहे, जरा भी इधर-उधर चल-विचल न हो सके ।

सभी प्रसंगों में अपनी चिद्रूप-भावना

सुखे दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।
चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिंतनं ॥17॥
सुख दु:ख भूखादि उपद्रव, महा रोगों चतुर्धा ।
उपसर्ग में चिद्रूप चिन्तन, अचल होऊँ इसे ध्या ॥६.१७॥

अन्वयार्थ : सुख-दुःख, उग्र-रोग और भूख-प्यास आदि के भयंकर उपद्रवों में तथा मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत चारों प्रकार के उपसर्ग में मैं शुद्धचिद्रूप का ही चिन्तवन करता रहूँ, मुझे उनके उपद्रव से उत्पन्न वेदना का जरा भी अनुभव न हो ।

अपनी अनादि-कालीन प्रवृत्ति और उसके फल पर खेद

निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे ।
चिद्रूपे तेन सोढानि महादुःखान्यहो मया ॥18॥
नित अनादि से घूमते, भव में नहीं मैंने किया ।
चिद्रूप में मन अचल, इससे घोर दु:खों को सहा ॥६.१८॥

अन्वयार्थ : इस संसार में मैं अनादिकाल से घूम रहा हूँ । हाय ! मैंने कभी भी शुद्धचिद्रूप में अपना मन निश्चलरूप में न लगाया इसलिये मुझें अनन्त दुःख भोगने पड़े ।

दृढ़ता पूर्वक मोक्ष-प्राप्ति के उपाय

ये याता यांति यास्यंति निर्वृत्तिं पुरुषोत्तमाः ।
मानसं निश्चलं कृत्वः स्वे चिद्रूपे न संशयः ॥19॥
जो श्रेष्ठ नर शिव गए, जा रहे जाएंगे संशय नहीं ।
निज शुद्ध चिद्रूप में अचल, मन कर यही बस हेतु ही ॥६.१९॥

अन्वयार्थ : जो पुरुषोत्तम-महात्मा मोक्ष गये या जा रहे हैं और जावेंगे इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने अपना मन शुद्धचिद्रूप के ध्यान में निश्चलरूप से लगाया, लगाते हैं और लगावेंगे ।

भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष का उपाय

निश्चलोंऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग् ॥20॥
मैं शुद्ध चिद्रूपी सदा ही अचल मन से भाव शिव ।
तत्क्षण हुआ फिर यथाक्रम से यहीं रह हो द्रव्य शिव ॥६.२०॥

अन्वयार्थ : जिस समय निश्चल मन से यह स्मरण किया जाता है कि मैं शुद्धचिद्रूप हूँ, भाव-मोक्ष उसी समय हो जाता है और द्रव्य-मोक्ष क्रमशः होता चला जाता है ।

व्यवहार-नय के अवलम्बन की मर्यादा

न यामि शुद्धचिद्रूपे लयं यावदहं दृढं ।
न मुंचामि क्षणं तावद् व्यवहारावलंबनं ॥1॥
इस शुद्ध चिद्रूप में मगन, दृढ़ नहीं होता जानता ।
व्यवहार अवलम्बन तभी तक, मैं कभी नहिं छोड़ता ॥७.१॥

अन्वयार्थ : जब तक मैं दृढ़रूप से शुद्धचिद्रूप में लीन न हो जाऊं तब तक मैं व्यवहारनय का सहारा नहीं छोडूं ।

व्यवहार और निश्चय-नय का विषय

अशुद्धं किल चिद्रूपं लोके सर्वत्र दृश्यते ।

व्यवहारनयं श्रित्वा शुद्धं बोधदृशा क्वचित् ॥2॥

अशुद्ध है चिद्रूप जग में, दिखाता व्यवहार ही ।

निश्चय दिखाए सर्वदा, मैं शुद्ध चिद्रूप एक ही ॥६.२॥

अन्वयार्थ : व्यवहारनय के अवलम्बन से सर्वत्र संसार में अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टिगोचर होता है निश्चयनय से शुद्ध तो कहीं किसी आत्मा में दिखता है ।

चिद्रूप में विशुद्धि प्रगट होने की प्रक्रिया

चिद्रूपे तारतम्येन गुणस्थानाच्चतुर्थतः ।

मिथ्यात्वाद्युदयाद्यख्यमलापायाद् विशुद्धता ॥3॥

मिथ्यात्व आदि के उदय मय, मलों के सु विनाश से ।

चिद्रूप में तारतम्य से, हो विशुद्धि गुण चतुर्थ से ॥६.३॥

अन्वयार्थ : गुणस्थानों में चढ़नेवाले जीवों को चौथे गुणस्थान से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मलोंका ज्यों-ज्यों नाश होता जाता है वैसा ही वैसा चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है ।

उदाहरण पूर्वक मोक्ष और स्वर्ग के मार्ग की पृथक्ता

मोक्षस्वर्गार्थिनां पुंसां तात्त्विकव्यवहारिणां ।

पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव ॥4॥

ज्यों पृथक्-पृथक् नगर गमन के पथ पृथक् ही हों सदा ।

तात्त्विक शिवार्थी स्वर्ग **अर्थ**ी, अतात्त्विक पथ पृथक्ता ॥७.४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नगर के जाने वाले पथिकों के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं, उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक तात्त्विक पुरुषों का व स्वर्ग के इच्छुक अतात्त्विक पुरुषों का मार्ग भिन्त-भिन्न है ।

व्यवहार को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करने की आज्ञा

चिंताक्लेशकषायशोकबहुले देहादिसाध्यात्परा-

धीने कर्मनिबन्धनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते ।

व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वा व्रजात्मन् सदा

शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते ॥5॥

व्यवहार और निश्चय मार्ग की तुलना करते हुए

चिन्ता क्लेश कषाय शोक बहुल तनादि साध्य से ।

परतन्त्र कर्म निबन्धनी, अति विषम आशा भयों से ॥

परिपूर्ण व्यामोही दशा, व्यवहार को तज ग्रहण कर ।

नित सुखद दोषों से रहित, यह शुद्ध निश्चय का विषय ॥७.५॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! यह व्यवहार मार्ग चिन्ता, क्लेश, कषाय और शोक से जटिल है । देह आदि द्वारा साध्य होनेसे पराधीन है। कर्मों के लाने में कारण है । अत्यन्त विकट, भय और आशा से व्याप्त है और व्यामोह करानेवाला है; परन्तु शुद्ध-निश्चयनय रूप मार्ग में कोई विपत्ति नहीं है, इसलिये तू व्यवहारनय को त्यागकर शुद्ध-निश्चयनयरूप मार्ग का अवलंबन कर; क्योंकि यह इस लोक की क्या बात ? परलोक में भी सुख का देनेवाला है और समस्त दोषों से रहित निर्दोष है ।

अपनी भावना

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः ।
न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचित्यस्तु लयः सदैव ॥6॥
नहिं भक्त गण से प्रयोजन, नहिं शिष्य पुस्तक तनादि ।
नहिं कार्य कुछ करना मुझे, मैं लीन शुध चिद्रूप ही ॥७.६॥

अन्वयार्थ : मेरा मन शुद्धचिद्रूप की प्राप्ती के लिये उत्सुक है, इसलिये न तो संसार में मुझे भक्तों की आवश्यक्ता है, न शिष्यवर्ग, पुस्तक, देह आदि से ही कुछ प्रयोजन है एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है। केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्धचिद्रूप में ही लीन रहे । सिवाय शुद्धचिद्रूप के, बाह्य किसी पदार्थ में जरा भी न जाय ।

न चेतसा स्पर्शमहं करोमि सचेतनाचेतनवस्तुजाते ।
विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यं ॥7॥
निज शुद्ध चिद्रूप तत्त्व तज मैं कभी कुछ कैसे कहीं ।
भी चेतनाचेतन पदार्थों का करूँ चिन्तन नहीं ॥७.७॥

अन्वयार्थ : मेरी यह कामना है कि शुद्धचिद्रूप नामक पदार्थ को छोड़कर मैं किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ का किसी देश और किसी काल में कभी भी अपने मन से स्पर्श न करूँ ।

व्यवहार पूर्वक निश्चय का फल

व्यवहारं समालंब्य येऽक्षि कुर्वंति निश्चये ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेपामेवेतरस्य न ॥8॥
व्यवहार को अवलम्ब जो, दृष्टि करें निश्चय नियत ।
निज शुद्ध चिद्रूप लब्धि उनको, नहीं पाते अन्य जन ॥७.८॥

अन्वयार्थ : व्यवहारनय का अवलंबन कर जो महानुभाव अपनी दृष्टि को शुद्ध निश्चयनय की ओर लगाते हैं, उन्हें ही संसार में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है। अन्य मनुष्यों को शुद्धचिद्रूप का लाभ कदापि नहीं हो सकता ।

नय की अपेक्षा चिद्रूप का प्रतिपादन

संपर्कात् कर्मणोऽशुद्धं मलस्य वसनं यथा ।
व्यवहारेण चिद्रूपं शुद्धं तन्निश्चयाश्रयात् ॥9॥
ज्यों वस्त्र मैला मलिनता से, कर्म बन्धन से अशुद्ध ।
व्यवहार से चिद्रूप निश्चय की अपेक्षा पूर्ण शुद्ध ॥७.९॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार निर्मल वस्त्र भी मैल से मलिन (अशुद्ध) हो जाता है, उसी प्रकार व्यवहारनय से कर्म के संबंध से शुद्धचिद्रूप भी अशुद्ध है; परन्तु शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वह शुद्ध ही है ।

नय-विवक्षा

अशुद्धं कथ्यते स्वर्णमन्यद्रव्येण मिश्रितं ।
व्यवहारं समाश्रित्य शुद्धं निश्चयतो यथा ॥10॥
युक्तं तथाऽन्यद्रव्येणाशुद्धं चिद्रूपमुच्यते ।
व्यवहारनयात् शुद्धं निश्चयात् पुनरेव तत् ॥11॥
व्यवहार दृष्टि से अशुद्ध, अन्य के संयोग से ।
है स्वर्ण शुद्ध सदैव, एकाकी सुनिश्चय दृष्टि से ॥७.१०॥

त्यों कर्म बन्धन अपेक्षा, व्यवहार नय से अशुद्ध है ।
चिद्रूप ही निश्चय अपेक्षा, पूर्ण शुद्ध प्रभु कहें ॥७.११॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार व्यवहारनय से शुद्ध सोना भी अन्य द्रव्य के मेल से अशुद्ध और वही निश्चयनय से शुद्ध कहा जाता है, उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप भी कर्म आदि निकृष्ट द्रव्यों के सम्बन्ध से व्यवहारनय की अपेक्षा अशुद्ध कहा जाता है और वही शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है ।

चिद्रूप के शुद्ध होने का क्रम

बाह्यांतरन्यसंपर्को येनांशेन वियुज्यते ।
तेनांशेन विशुद्धिः स्याद् चिद्रूपस्य सुवर्णवत् ॥12॥
ज्यों बाह्य अन्त: मलिनता, जितनी मिटी है शुद्ध ही ।
वह स्वर्ण त्यों चिद्रूप के, क्रमश: विशुद्धि व्यक्त ही ॥७.१२॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार स्वर्ण बाहर भीतर जितने भी अंश अन्य द्रव्य के संबंध से छूट जाता है तो वह उतने अंश में शुद्ध कहा जाता है, उसीप्रकार चिद्रूप के भी जितने अंश से कर्म-मल का संबंध नष्ट हो जाता है उतने अंश में वह शुद्ध कहा जाता है ।

व्यवहार के अवलम्बन की मर्यादा

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतारोहणं सुधीः ।
कुर्वन् करोति सुदृष्टिर्व्यवहारावलंबनं ॥13॥
आरुह्य शुद्धचिद्रूप ध्यानपर्वतमुत्तमं ।
तिष्ठेद् यावत्त्यजेत्तावद् व्यवहारावलंबनं ॥14॥
इस शुद्ध चिद्रूप ध्यान रूपी, पर्वतारोहण समय ।
व्यवहार अवलम्बन ग्रहें, सुदृष्टि विज्ञ विवेकमय ॥७.१३॥
पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान मय, उत्तम गिरी आरूढ़ हो ।
व्यवहार अवलम्बन तजें, निज रूप में सन्तुष्ट हो ॥७.१४॥
अन्वयार्थ : विद्वान मनुष्य जब तक शुद्धचिद्रूप के ध्यानरूपी विशाल पर्वत पर आरोहण करता है तब तक तो व्यवहार-नय का अवलंबन करता है; परन्तु ज्यों ही शुद्धचिद्रूप के ध्यान रूपी विशाल पर्वत पर चढ़कर वह निश्चलरूप से विराज-मान हो जाता है, उसी समय व्यवहारनय का सहारा छोड़ देता है ।

व्यवहार के आश्रय का अन्य कारण

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतादवरोहणं ।
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबनं ॥15॥
कुछ अन्य कारण वश यदि, चिद्रूप ध्यान गिरी गिरे ।
तो पुन: उस व्यवहार को, अवलम्ब निज ध्याता बने ॥७.१५॥
अन्वयार्थ : यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजन के लिये शुद्धचिद्रूप के निश्चल ध्यानरूपी पर्वत से उतरना हो जाय, ध्यान करना छोड़ना पड़े तो उस समय भी व्यवहारनय का अवलंबन रखे ।

व्यवहार-निश्चय की मैत्री

याता यांति च यास्यंति ये भव्या मुक्तिसंपदं ।
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्चनिश्चयं ॥16॥
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयं ।

व्यवहारं कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते ॥17॥
व्यवहार-निश्चय की मैत्री
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयं ।
व्यवहारं कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते ॥17॥
जो प्राप्त हैं पा रहे पाएंगे विभव शिव सौख्यमय ।
वे पूर्व में व्यवहार आलम्बन, पुन: निश्चय सतत ॥७.१७॥

निश्चय, व्यवहार की विधि

जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च ।
निश्चयं व्यवहारं तन्नयं भज यथाविधि ॥18॥
नित यथाविधि व्यवहार निश्चय नय समझ आश्रय करो ।
जिससे जिनागम में रुचि, जिन आचरण में भक्ति हो ॥७.१८॥
अन्वयार्थ : व्यवहार और, निश्चयनय का जैसा स्वरूप बतलाया है उसीप्रकार उसे जानकर उनका इस रीति में अवलंबन करना चाहिये जिससे कि जैन शास्त्रों में विश्वास और भगवान जिनेन्द्र के उक्त चारित्र में भक्ति बनी रहे ।

मात्र एक नय के अवलम्बन का फल

व्यवहारं विना केचिन्नष्टा केवलनिश्चयात् ।
निश्चयेन विना केचित् केवलव्यवहारतः ॥19॥
वे मात्र निश्चय से हुए हैं भ्रष्ट कुछ व्यवहार बिन ।
व्यवहार केवल से हुए हैं भ्रष्ट कुछ परमार्थ बिन ॥७.१९॥
अन्वयार्थ : अनेक मनुष्य तो संसार में व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्धनिश्चयनय के अवलंबन से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और बहुत से निश्चयनय को छोड़कर केवल व्यवहार का ही अवलंबन कर नष्ट हो जाते हैं ।

इस संबंध में स्याद्वादिओं का मत

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोक नं ।
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः ॥20॥
ज्यों भली-भाँति द्रव्य दिखते नहीं दोनों नेत्र बिन ।
त्यों स्याद्वादी मानता, दोनों नयों से युत कथन ॥७.२०॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार एक नेत्र से भले प्रकार से पदार्थों का अवलोकन नहीं होता उसीप्रकार दोनों नयों से ही निर्दोषरूप से कार्य हो सकता है ऐसा स्यादवाद मत के धुरंधर विद्वानों का मत है ।

इस संबंध में जैनी की प्रवृत्ति

निश्चयं क्वचिदालंब्य व्यवहारं क्वचिन्नयं ।
विधिना वर्त्तते प्राणी जिनवाणीविभूषितः ॥21॥
हैं जिनागम से विभूषित विधि पूर्वक निश्चय कभी ।
अवलम्ब लें अवलम्ब लें व्यवहारनय का कहिं कभी ॥७.२१॥
अन्वयार्थ : जो जीव भगवान जिनेन्द्र की वाणी से भूषित हैं, उनके वचनों पर पूर्णरूप से श्रद्धान रखनेवाले हैं वे कहीं व्यवहारनय से काम चलाते हैं और कहीं निश्चयनय का सहारा लेते हैं ।
व्यवहाराद्बहिः कार्यं कुर्याद्विधिनियोजितं ।

निश्चयं चांतरं धृत्वा तत्त्वेदी सुनिश्चलं ॥22॥
नित तत्त्ववेदी अन्तरंग में सुनिश्चल निश्चय ग्रहण ।
कर बाह्य में व्यवहार से करते करम विधि पूर्वक ॥७.२२॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव तत्त्वज्ञानी हैं, वे अन्तरंग में भले-प्रकार निश्चयनय को धारण कर व्यवहारनय से अवसर देखकर बाह्म में कार्य का संपादन करते हैं ।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति में नयों की भूमिका

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यतां ।
नयादिरहितं शुद्धचिद्रूपं तदनंतरं ॥23॥
नित नयों के आधीन है, निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति ।
पश्चात् देखो शुद्ध चिद्रूप, नयादि विरहित सभी ॥७.२३॥
अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नयों के आधीन है । शुद्धचिद्रूप के प्राप्त हुये पश्चात् नयों के अवलंबन की कोई आवश्यकता नहीं ।

चिद्रूप को प्राप्त करने की पात्रता

छेत्रीसूचिक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूषयंत्रै
स्तुल्या पाथः कतकफ लबद्धंसपक्षिस्वभावा ।
शस्त्रीजायुस्वधितिसदृशा टंकवैशाखबद्वा
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धिः ॥1॥
जिसकी मती छैनी सुई, आरा पवन सीसा अनल ।
जल कोलु दाँता कतकफल, औषध छुरी वैशाखवत् ॥
टाँकी मरालादि प्रकृतिवत्, भेद करना जानती ।
परमार्थ निज पर वस्तु का, चिद्रूप प्राप्ति उसे ही ॥८.१॥
अन्वयार्थ : जिस महानुभाव की बुद्धि छेनी, सुई, आरा, पवन, सीसा, अग्नि, ऊषयंत्र (कोल) कतकफल (फिटकरी), हंसपक्षी, छुरी, जायू, दांता, टांकी और वैशाख के समान जड़ और चेतन के भेद करने में समर्थ हो गई है, उसी महानुभाव को चिद्रूप की प्राप्ति होती है ।

आत्मा-शरीर के पृथक्-करण का उदाहरण

स्वर्णं पाषाणसूताद्वसनमिव मलात्ताम्ररूप्यादि हेम्नो
वा लोहादग्निरिक्षो रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात् ।
ताम्रं तैलं तिलादेः रजतमिव किलोपायतस्ताम्रमुख्यात्
दुग्धान्नीरं घृतं च क्रियत इव पृथक् ज्ञानिनात्मा शरीरात् ॥2॥
ज्यों स्वर्ण पत्थर से स्वर्ण मैल से पट स्वर्ण से ।
नित ताम्र चाँदी आदि लोहे से अनल ताम्रादि से ॥
ज्यों रजत जल घृत दूध से, इक्षु से रस मोर पंख से ।
करते पृथक् ताँबा सु ज्ञानी निजातम को देह से ॥८.२॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार स्वर्णपाषाण से सोना भिन्न किया जाता है, मैल से वस्त्र, सोने से तांबा-चांदी आदि पदार्थ, लोहे से अग्नि, ईख से रस, कीचड़ से जल, केकी (मयूर) के पंख से ताँबा, तिल आदि से तेल, तांबा आदि धातुओं से चांदी और दूध से जल एवं घी भिन्न कर लिया जाता है, उसीप्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है - जड़ चेतन का वास्तविक ज्ञान रखता है वह शरीर से आत्मा को भिन्न कर पहिचानता है ।

पर को छोड़कर चिद्रूप की भावना

देशं राष्ट्रं पुराद्यं स्वजनवनधनं वर्णपक्षं स्वकीय
ज्ञातिं संबंधिवर्गं कुलपरिजनकं सोदरं पुत्रजाये ।
देहं हृद्वाग्निभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनि भित्वा
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥3॥
धन वन स्वजन नगरादि राष्ट्र, देश अपनी जाति तन ।
मन वचन संबन्धी सहोदर, सुत तिया कुल परीजन ॥
निज वर्ग पक्ष विभाव विकृति, कारकादि गुणविधि ।
इत्यादि सब मुझसे पृथक्, यों मान इनसे पृथक् ही ॥
इन सभी को नित कर पृथक्, मैं एक शुद्ध चिद्रूप ही ।
अविभाग गुणनिधि सहज ध्याऊँ स्मरूँ मैं एक ही ॥८.३॥

अन्वयार्थ : देश, राष्ट्र, पुरगाँव, स्वजन-समुदाय, धन, वन, ब्राह्मण आदि वर्णों का पक्षपात, जाति, संबन्धी, कुल, परिवार, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय और वाणी ये सब पदार्थ विकार के करनेवाले हैं - इनको अपना मानकर स्मरण करने से ही चित्त, शुद्धचिद्रूप की ओर से हट जाता है, चंचल हो उठता है तथा मैं कर्त्ता और कारण आदि हूँ इत्यादि कारकों के स्वीकार करने से भी चित्त में चल-विचलता उत्पन्न हो जाती है - इसलिये स्वाभाविक गुणों के भंडार शुद्धचिद्रूप को ही मैं निरविभागरूप से कर्त्ता-कारण का कुछ भी भेद न कर स्मरण कर मनन, ध्यान करता हूं ।

दु:ख नष्ट करने का उपाय

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिवति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥4॥
पीते सुधी काई पृथक् कर, जल तृषा को मिटाने ।
सब विकल्पों को छोड़ शुद्ध, स्व आत्म ध्यानामृत पिएं ॥८.४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार क्लेश (पिपासा) की शांति के लिये जल के ऊपर पड़ी हुई काई को अलग कर शीतल सुरस निर्मल जल पीया जाता है, उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, दुःखों से दूर होना चाहते हैं, वे समस्त संसार के विकल्प जालों को छोड़कर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृत-पान करते हैं -- अपने चित्त को द्रव्य आदि की चिन्ता की ओर नहीं झुकने देते ।

आत्म-ध्यान ही सब कुछ

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥5॥
निज आत्म-ध्यान से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं तप भी नहीं ।
नहिं अन्य कोई मोक्ष-पथ, यों करो आतम-ध्यान ही ॥८.५॥

अन्वयार्थ : (क्योंकि) इस आत्मध्यान से बढ़कर न तो कहीं किसी काल में कोई सुख है, न तप है और न मोक्ष ही है, इसलिये इसी को परम कल्याण का कर्त्ता समझना चाहिये ।

मोही और निर्मोही की रुचि

केचित्प्राप्य यशः सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।
मन्यंते सफलं स्वजन्ममुदिता मोहाभिभूता नरा ।

मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवलं ॥6॥
सब मोह मोहित मती यश, इन्द्रियज सुख नृप सुत सुहृत् ।
उत्तम तिया बल रूप वाहन, पण्डिताई प्राप्त कर ॥
इत्यादि उत्तम वस्तुएं, पा नर जनम मानें सफल ।
मैं मानता तन आत्मा के, भेद ज्ञान से नित सफल ॥८.६॥
अन्वयार्थ : मोह के मद में मत्त बहुत से मनुष्य कीर्ति प्राप्त होने से ही अपना जन्म धन्य समझते हैं; अनेक इंद्रियजन्य-सुख, सुन्दर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम सवारियों की प्राप्ति से अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतों को बल, उत्तम मित्र, विद्वत्ता और मनोहररूप आदि की प्राप्ति से संतोष हो जाता है; एरन्तु मैं आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से अपना जन्म सफल मानता हूँ ।

भेद-विज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का अभाव

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः ।
भेदविज्ञानवजंर न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥7॥
हैं रहें नित चैतन्य भू पर, कर्म गिरि दुर्भेद्य मय ।
जब तक पड़े नहिं भेद-ज्ञानमयी पवी उन शीश पर ॥८.७॥
अन्वयार्थ : आत्मारूपी भूमि में कर्मरूपी अभेद्य पर्वत, तभी तक निश्चलरूप से स्थिर रह सकते हैं, जब तक भेद-विज्ञान रूपी वज्र इनके मस्तक पर पड़ कर इन्हें चुर्ण-चूर्ण नहीं कर डालता ।

उत्तरोत्तर दुर्लभता का प्रतिपादन

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥8॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः ।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥9॥
दुर्लभ यहाँ जग में सदा, चिद्रूप रुचि कारक कहे ।
उनसे भि दुर्लभ शुद्ध चिद्रूप निरूपक नित शास्त्र हैं ॥८.८॥
उन शास्त्र उपदेशक गुरु, उनसे भि दुर्लभ लोक में ।
चिन्तामणि सम भेदमय, विज्ञान दुर्लभ उन्हीं से ॥८.९॥
अन्वयार्थ : जो पदार्थ चिद्रूप से प्रेम कराने वाला है वह संसार में दुर्लभ है; उससे भी दुर्लभ चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है; यदि शास्त्र भी प्राप्त हो जाय तो चिद्रप के स्वरूप का उपदेशक गुरु नहीं मिलता, इसलिये उससे गुरु की प्राप्ति दुर्लभ है; गुरु भी प्राप्त हो जाय तो भी जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, उसीप्रकार भेद-विज्ञान की प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है ।

भेद-ज्ञान की परिभाषा

भेदो विधीयते येन चेतनाद्देहकर्मणोः ।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥10॥
निज चेतनात्मक स्वयं से, तन कर्म तज्जन्य विक्रिया ।
का भेद जिससे जानते, वह भेदज्ञान कहा गया ॥८.१०॥
अन्वयार्थ : जिसके द्वारा आत्मा से देह और कर्म का तथा देह एवं कर्म से उत्पन्न हुई विक्रियाओं का भेद जाना जाय उसे भेद-विज्ञान कहते हैं ।

भेद-ज्ञान के बिना शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपःश्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥11॥
बहु तपस्वी शास्त्रज्ञ भी, निज शुद्ध चिद्रूप को सभी ।
भेदज्ञान बिन कैसे कहीं भी, नहीं पा सकते कभी ॥८.११॥
अन्वयार्थ : शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति, बिना भेद-विज्ञान के कदापि नहीं हो सकती, इसलिये तपस्वी या शास्त्र किसी महानुभाव ने बिना भेद-विज्ञान के आजतक कहीं भी शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति न कर पाई और न कर ही सकता है ।

भेद-विज्ञान से सभी कर्मों समाप्त

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥12॥
तृण राशि को ज्यों आग क्षण में, भस्म कर देती सभी ।
त्यों क्षय करे चिद्रूप-घातक, सभी को भेदज्ञ ही ॥८.१२॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अग्नि देखते देखते तृणों के समूह को जलाकर खाक कर देती है, उसीप्रकार जो भेद-विज्ञानी है वह शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति को नाश करनेवाले कर्म-समूह को क्षण-भर में समूल नष्ट कर देता है ।

भेद-ज्ञान की भावना

अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥13॥
सब शास्त्र पारंगत सुधी, चिद्रूप प्राप्ति के लिए ।
निर्बाध धारा से सतत, भेद-ज्ञान ही भाया करे ॥८.१३॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव समस्त शास्त्रों में विशारद है और शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी है, उसे चाहिये कि वह एकाग्र हो भेद-विज्ञान की ही भावना करे; भेद-विज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ में ध्यान न लगाये ।

भेद-ज्ञान का फल

संवरोनिर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥14॥
निज आतमा के ज्ञान से, साक्षात् संवर निर्जरा ।
वह व्यक्त भेद-विज्ञान से, यों मुमुक्षु को भावना ॥८.१४॥
अन्वयार्थ : अपने-आत्मा के ज्ञान से संवर और निर्जरा की प्राप्ति होती है । आत्मा का ज्ञान भेद-विज्ञान से होता है, इसलिये मोक्षाभिलाषी को चाहिये कि वह भेद-विज्ञान की ही भावना करे ।

भेद-ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं हुआ

लब्धा वस्तुपरीक्षा च शिल्पादि सकला कला ।
वह्वी शक्तिर्विभूतिश्च भेदज्ञप्तिर्न केवला ॥15॥
वस्तु परीक्षा शिल्प आदि, बहु कलाएं शक्तिआँ ।
वैभव विविध पाया, परन्तु भेद-ज्ञान न पा सका ॥८.१५॥
अन्वयार्थ : इस संसार के अंदर अनेक पदार्थों की परीक्षा करना भी सीखा; शिल्प आदि अनेक प्रकार की कलायें भी हासिल की; बहुत

सी शक्तियां और विभूतियां भी प्राप्त की; परन्तु भेदविज्ञान का लाभ आज तक नहीं हुआ ।

पुन: भेद-ज्ञान का फल

चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्नं बुध्यते ।
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभंजनात् ॥16॥
तन आतमा में भेद के, विज्ञानमय तूफान से ।
चिद्रूप-छादक मोह धूली, नष्ट हो जड़ मूल से ॥८.१६॥

अन्वयार्थ : शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञानरूपी महापवन से चिद्रूप के स्वरूप को ढंकनेवाली मोह की रेणुयें न मालूम कहाँ किनारा कर जाती है?

भेद-ज्ञान को अद्वितीय दीपक की उपमा

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥17॥
है अनादि अति मोह तम, नाशक प्रदर्शक चिन्मयी ।
है दीप्त उत्तम दीप कहते शुद्ध भेद-विज्ञान ही ॥८.१७॥

अन्वयार्थ : यह भेदविज्ञान, शुद्धचिद्रूप के दर्शन में जाज्वल्यमान दीपक है और अनादिकाल से विद्यमान मोह रूपी प्रबल अंधकार का नाश करनेवाला है ।

भेद-ज्ञानरूपी नेत्र की महिमा

भेदविज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते ।
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितं ॥18॥
सत् भेद-विज्ञान नेत्र से, साक्षात् देखें योगि-गण ।
नित सिद्ध स्थल में या तन में, कर्म बिन चिद्रूप स्व ॥८.१८॥

अन्वयार्थ : योगीगण भेद-विज्ञानरूपी नेत्र की सहायता से सिद्धस्थान और शरीर में विद्यमान समस्त कर्म से रहित शुद्धचिद्रूप को स्पप्टरूप से देख लेते हैं ।

आत्मा-शरीर के पृथक्-पृथक् ज्ञान का उदाहरण

मिलितानेकवस्तूनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक् ।
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन निःशंकं ज्ञायते यथा ॥19॥
तथैव मिलितानां हि शुद्धचिद्देहकर्मणां ।
अनुभूत्या कथं सद्भिः स्वरूपं न पृथक् पृथक् ॥20॥
नित परस्पर मिश्रित अनेकों, वस्तुओं का भिन्न भिन्न ।
स्व रूप स्पर्शादि द्वारा, जानते नि:शंक विज्ञ ॥८.१९॥
त्यों मिले पर हैं भिन्न भिन्न शुद्ध चेतन तन करम ।
सद् विज्ञ अनुभूति से जानें, पृथक्-पृथक् स्वरूप सब ॥८.२०॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार विद्वान मनुष्य आपस में मिले हुये अनेक पदार्थों का स्वरूप स्पर्श आदि के द्वारा स्पष्टरूप से भिन्न-भिन्न पहिचान लेते हैं, उसीप्रकार आपस में अनादिकाल से मिले हुये शुद्धचिद्रूप, शरीर और कर्म के स्वरूप को भी अनुभवज्ञान के बल से सत्पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न क्यों न जाना जाय ?

उदाहरण द्वारा भेद-ज्ञान के फल

आत्मानं देहकर्माणि भेदज्ञाने समागते ।
मुक्त्वा यांति यथा सर्पा गरुडे चंदनद्रुमं ॥21॥
जैसे गरुड़ को देख चन्दन तरु लिपटे सर्प भी ।
नित भाग जाते छोड़कर, त्यों आत्मा तन कर्म भी ॥
यद्यपि अनादि से मिले, पर पारमार्थिक भेद का ।
विज्ञान प्रगटा तन करम, आतम से भिन्न हुआ सदा ॥८.२१॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार चन्दन वृक्ष पर लिपटा हुआ सर्प अपने बैरी गरुड़ पक्षी को देखते ही तत्काल आँखों से ओझल हो जाता है, पता लगाने पर भी उसका पता नहीं लगता; उसीप्रकार भेद-विज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त देह तथा कर्म आत्मा को छोड़कर न मालूम कहां लापता हो जाते हैं, विरोधी भेदविज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्मों की सूरत भी नहीं दीख पड़ती ।

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली ।
भवेद्देवाधिदेवोऽपि तीर्थकर्त्ता जिनेश्वरः ॥22॥
पा शुद्ध-चिद्रूप भेद-ज्ञान प्रभाव से सर्वज्ञ हो ।
देवाधिदेव जिनेश, तीर्थंकर हुआ शोभित अहो ॥८.२२॥

अन्वयार्थ : इसी भेदविज्ञान के बल से यह आत्मा शुद्धचिद्रूप को प्राप्तकर केवलज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर और देवाधिदेव होता है ।

मोह की परिभाक्षा

अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतराः ।
एतेऽदश्चिंतनं मोहो यतः किंचिन्न कस्यचित् ॥1॥
ये **अर्थ** चेतन अचेतन, मेरे पराए चिन्तवन ।
है मोह क्योंकि किसी का, कुछ भी नहीं पर, जिन-कथन ॥९.१॥

अन्वयार्थ : ये चेतन और जड़ पदार्थ पराये और अपने हैं इस प्रकार का चिंतवन मोह है; क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो कोई पदार्थ किसी का नहीं ।

दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्त्तिरुज्ज्वला ।
अनुज्ज्वलापकीर्त्तिर्वा मोहस्तेनेति चिंतनं ॥2॥
अपमान मान दिया, सुपावन यश मलिन अपयश किया ।
इत्यादि चिन्तन मोह, क्योंकि लेन देन नहीं यहाँ ॥९.२॥

अन्वयार्थ : इसने मेरा आदर सत्कार किया, इसने मेरा अपमान (अनादर) किया, इसने मेरी उज्ज्वल कीर्ति फैलाई और इसने मेरी अपकीत्ति फैलाई, इस प्रकार का विचार मन में लाना ही मोह है।

किं करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुखं कृतः ।
किमाश्रयामि किं वच्मि मोहचिंतनमीदृशं ॥3॥
क्या करूँ मैं जाऊँ कहाँ, कैसे मिले सुख कहाँ से?
पाऊँ शरण किसकी कहूँ क्या? मोह चिन्तन सभी ये ॥९.३॥

अन्वयार्थ : मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? कैसे सुखी होऊं ? किसका सहारा लूं ? और क्या कहूं ? इस प्रकार का विचार करना भी मोह है ।

मोह और अपने स्वरूप का वर्णन

चेतनाचेतने रागो द्वेषो मिथ्यामतिर्मम ।

मोहरूपमिदं सर्वंचिद्रूपोऽहं हि केवलः ॥4॥
मुझ मती मिथ्या यही, राग द्वेष है जड़ जीव में ।
यह मोह का ही रूप सब, चिद्रूप केवल सदा मैं ॥९.४॥
अन्वयार्थ : ये जो संसार में चेतन-अचेतन रूप पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे मेरे हैं या दूसरे के हैं, इस प्रकार राग और द्वेषरूप विचार करना मिथ्या है; क्योंकि ये सब मोह-स्वरूप है और मेरा स्वरूप शुद्ध-चिद्रूप है, इसलिये ये मेरे कभी नहीं हो सकते ।
देहोऽहं मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम ।
कलत्रादिरहं वा मे मोहोऽदश्चिंतनं किल ॥5॥
तन मैं यही मेरा कर्म का उदय मैं मेरा यही ।
सुत तिया सब मैं, हुए मेरे मोह चिन्तन सब यही ॥९.५॥
अन्वयार्थ : मैं शरीर-स्वरूप हूँ और शरीर मेरा है, मैं कर्म का उदय-स्वरूप हूँ और कर्म का उदय मेरा है, मैं स्त्री पुत्र आदि स्वरूप हूँ और स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं, इस प्रकार का विचार करना भी सर्वथा मोह है - देह आदि में मोह के होने से ही ऐसे विकल्प होते हैं ।

मोह को जीतने का उपाय

तज्जये व्यवहारेण संत्युपाया अनेकशः ।
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनं ॥6॥
व्यवहार से इस पर विजय के, अनेकों साधन कहे ।
परमार्थ से चिद्रूप शुद्ध, यही मैं मेरा कहें ॥९.६॥
अन्वयार्थ : व्यवहारनय से इस उपयुक्त मोह के नाश करने के लिये बहुत से उपाय हैं, निश्चयनय से 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ; वही मेरा है' ऐसा विचार करने मात्र से ही इसका सर्वथा नाश हो जाता है ।

निश्चिंत होकर आत्म-चिंतन करने-हेतु प्रेरणा

धर्मोद्धारविनाशनादि कुरुते कालो यथा रोचते
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितं ।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते
तच्चिंतामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनं ॥7॥
हैं काल-कृत ही धर्म के, उद्धार-नाशादि सभी ।
इन्द्रियज उत्तम सौख्य दुख, स्व-पर उपार्जित कर्म ही ॥
हैं अन्य भी जो **अर्थ** जैसे, वहाँ ही रहते सभी ।
मत करो चिन्ता, करो चिन्तन, शुद्ध आतम मैं यही ॥९.७॥
अन्वयार्थ : काल के अनुसार धर्म का उद्धार व विनाश होता है; पहिले का उपार्जन किया हुआ कर्म ही इन्द्रियों के उत्तमोत्तम सुख और नाना प्रकार के क्लेश हैं । जो अन्य पदार्थ भी जैसे और जिस रीति से हैं वे उसी रीति से विद्यमान हैं, इसलिये हे आत्मन् ! तू उनके लिये किसी बात की चिंता न कर, अपने शुद्ध-चिद्रूप की ओर ध्यान दे ।

शरीर के प्रति मध्यस्थ भाव

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया ।
तस्याः किं मम वर्णनेन सतत किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥8॥

दुर्गन्ध मलभाजन कुकर्मों से बना सब धातु से ।
तन जग स्वयं के स्वार्थ वश, इच्छानुसार सभी कहें ॥
उसकी सदा निन्दा प्रशंसा से मुझे है लाभ क्या?
चिद्रूप मैं तन कर्म तद् भावों से भिन्न सदा रहा ॥९.८॥

अन्वयार्थ : यह शरीर दुर्गन्धमय है! विष्टा, मूत्र आदि मलों का घर है। निंदित कर्म की कृपा से मल, मज्जा आदि धातुओं से बना हुआ है । तथापि मूढ़ मनुष्यों ने अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिये इच्छानुसार इसकी प्रसंसा की है; परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशंसा और निंदा से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं निश्चयनय से शरीर, कर्म और उनसे उत्पन्न हुये विकारों से रहित शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूँ ।

अज्ञानी और ज्ञानी द्वारा कार्य करने का प्रयोजन

कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च
कर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ॥9॥
मोही करें यश अन्य रंजन, विषय इन्द्रिय प्राप्ति को ।
जीवन परिग्रह सुतादि, भय ज्ञान दर्शन **अर्थ** को ॥
बहु कीर्ति आदि कारणों को मिलाने रोगादि को ।
नित नष्ट करने आदि बहुविध प्रयोजन से कर्म को ॥
करते परन्तु सुधी सब परमार्थ हेतु सत् करम ।
चिद्रूप निज की प्राप्ति हेतु, बस यही नहिं अन्य करम ॥९.९॥

अन्वयार्थ : संसार में बहुत से मोही पुरुष कीर्ति के लिये काम करते हैं, अनेक दूसरों को प्रसन्न करने के लिये, इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये, संतान, परिग्रह, भय, ज्ञान, दर्शन तथा अन्य पदार्थों की प्राप्ति और रोग के अभाव के लिये काम करते हैं और बहुत से कीर्ति आदि के कारणों के मिलाने के लिये उपाय सोचते हैं परन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, अपनी आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं, वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये ही कार्य करते हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानी की विचार-धारा

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेतिचित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखं ॥10॥
सुर नाग नरपति सुख सदा, तृण जीर्णवत् लगते मुझे ।
कुस्त्री रमा घर तन सुतादि से प्रगट अज्ञ सुख कहें ॥९.१०॥

अन्वयार्थ : मैंने शुद्धचिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जान लिया है, इसलिये मेरे चित्त में देवेन्द्र, नागेद्र और नरेंद्रों के सुख जीर्ण तृण सरीखे जान पड़ते हैं; परन्तु जो मनुष्य अल्पज्ञानी हैं अपने और पर के स्वरूप का भले प्रकार ज्ञान नहीं रखते वे निंदित स्त्रियां, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्र से उत्पन्न हुये सुख को जो कि दुःख-स्वरूप हैं, सुख मानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ।

बद्ध-अबद्ध की अपेक्षा

न बद्धः परमार्थेन बद्धो मोहवशाद् गृही ।
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत् ॥11॥
ज्यों जाल भयप्रद शुक बँधा, मुट्ठी से मर्कट त्यों बँधा ।
निज मोह वश घर धनी, किन्तु वास्तव में नहिं बँधा ॥९.११॥

अन्वयार्थ : शुक को भय करानेवाले पाश के समान अथवा बंदर की मुठ्ठि के समान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टि से कर्मो से संबद्ध नहीं है तथापि मोह से बँधा ही हुआ है ।

प्रयत्न पूर्वक अन्य कार्यों से उपयोग को हटाने-हेतु प्रेरणा

श्रद्धानां पुस्तकानां जिनभवनमठांतेनिवास्यादिकानां
कीर्त्तेरक्षार्थकानां भुवि झटिति जनो रक्षणे व्यग्रचितः ।
यस्तस्य क्वात्मचिंता क्व च विशदमतिः शुद्धचिद्रूपकाप्तिः
क्व स्यात्सौख्यं निजोत्थं क्व च मनसि विचिंत्येति कुर्वंतु यत्नं ॥12॥
श्रद्धान पुस्तक जिनभवन, मठ शिष्य यश इत्यादि के ।
रक्षार्थ व्यग्रनी सतत, नर आत्म चिन्तन कब करे ॥
नहिं मती निर्मल शुद्ध चिद्रूप, प्राप्ति कब आत्मोत्थ सुख ।
कैसे मिले? मन सोच! आतम लब्धि-हेतु यत्न कर ॥९.१२॥

अन्वयार्थ : यह संसारी जीव, नाना प्रकार के धर्मकार्य, पुस्तकें, जिनेंद्र भगवान के मंदिर, मठ, छत्र और कीर्ति की रक्षा करने के लिये सदा व्यग्रचित्त रहता है - उन कार्यों से रंचमात्र भी इसे अवकाश नहीं मिलता, इसलिये न यह किसी प्रकार का आत्मध्यान कर सकता, न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती और न शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति और - निराकुलतारूप सुख ही मिल सकता है, अतः बुद्धिमानों को चाहिये कि वे इन सब बातों पर भले प्रकार विचार कर आत्मा के चिंतवन आदि कार्य में अच्छी तरह यत्न करे ।

आत्माराधक पुरुष को मन में धारण करें

अहं भ्रांतः पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशतः
परद्रव्ये चिंतासततकरणादाभवमहो ।
परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानंदनिलये
निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे ॥13॥
हो मोह-वश पर-द्रव्य चिन्ता से अभी तक जगत में ।
भटका सतत अब अन्य भटकें, मोह-वश ही अज्ञ ये ॥
पर-द्रव्य तज विहरें चिदानन्द मयी अपने द्रव्य में ।
उन आत्म-ध्यानी विज्ञ को, अब चित्त में धारण करें ॥९.१३॥

अन्वयार्थ : मोह के फंद में पड़कर पर द्रव्यों की चिन्ता और उन्हें अपनाने से प्रथम तो मैंने संसार में परिभ्रमण किया और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जनसमूह घूमा, इसलिये जो महापुरुष परद्रव्यों से ममता छोड़कर चिदानंदस्वरूप निज द्रव्य में विहार करनेवाला है - निज-द्रव्य का ही मनन, स्मरण, ध्यान करनेवाला है, उस महात्मा को मैं अपने चित्त में धारण करता हूँ ।

शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण नहीं करने में अपना नुकसान

हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति ।
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः ॥14॥
जो शुद्ध चिद्रूप स्मरण तज, अन्य कार्य करें सतत ।
वे अज्ञ चिन्तामणि तज, पाषाण लेते यों समझ ॥९.१४॥

अन्वयार्थ : जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूप का स्मरण न कर अन्य कार्य करना चहते हैं वे चिन्तामणि रत्न को त्यागकर पाषाण ग्रहण करते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

आत्म-चिन्तन और मोह का फल

स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं परं स्यादात्मचिंतनात् ।
तन्मुक्त्वाः प्राप्तुमिच्छंति मोहतस्तद्विलक्षणं ॥15॥
निज आत्म चिन्तन से परम सुख ज्ञान आत्माधीन हो ।
यह मोह से तज करे उल्टे यत्न सुख हेतु अहो ॥९.१५॥

अन्वयार्थ : इस आत्मा के चिंतवन से - शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से निराकुलुतारूप सुख और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है; परन्तु मूढ़ जीव मोह के वश होकर आत्मा का चिंतवन करना छोड़ देते हैं और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनंत क्लेश देनेवाला है' करते हैं ।

शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलता की अयोग्यता क्यों?

यावन्मोहो बली पुंसि दीर्घसंसारतापि च ।
न तावत् शुद्धचिद्रूपे रुचिरत्यंतनिश्चला ॥16॥
जब तक बली है मोह, भव की दीर्घता इस जीव में ।
तब तक रुचि अत्यन्त निश्चल, नहीं शुद्ध चिद्रूप में ॥९.१६॥

अन्वयार्थ : जब तक आत्मा में महा-बलवान मोह है और दीर्घसंसारता - चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करना बाकी है, तब तक इसको कभी भी शुद्धचिद्रूप में निश्चलरूप से प्रेम नहीं हो सकता ।

आत्म-ध्यान के उपदेश की निष्फलता का उदाहरण

अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने
गीतं बाधिर्ययुक्ते वपनमिह यथाऽप्यूषरे वार्यतृष्णे ।
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघः कुंकुमं नीलवस्त्रे
नात्मप्रीतौ तदाख्या भवति किल वृथा निः प्रतीतौ सुमंत्रः ॥17॥
ज्यों अन्ध हेतु नृत्य, तप अज्ञानि आयु अन्त में ।
औषधि गाना बधिर हेतु, बीज ऊसर भूमि में ॥
ज्यों प्यास बिन जल, चित्र चिकने पर अभव्य धरम रुचि ।
निर्दोष विधि पट कृष्ण वर्णी पर केशरिया वर्ण भी ॥
नित अश्रद्धालु को सु न्त्र आदि ये सब व्यर्थ हैं ।
त्यों आत्म-प्रीति विना आतम कथा आदि व्यर्थ हैं ॥९.१७॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अंधे के लिये नाच, अज्ञानी के लिये तप, आयु के अंत में औषधि का प्रयोग, बहिरे के लिये गीतों का गाना, ऊसर भृमि में अन्नका बोना, बिना प्यासे मनुष्य के लिये जल, चिकनी वस्तु पर चित्र का खींचना, अभव्य को धर्म की रुचि का होना, काले कपड़े पर केसरिया रंग और प्रतीति रहित पुरुष के लिये मंत्र प्रयोग, कार्यकारी नहीं; उसी प्रकार जिसको आत्मा में प्रेम नहीं उस मनुष्य को आत्मा के ध्यान करने का उपदेश भी कार्यकारी नहीं - सब व्यर्थ है ।

मूढ़ जीवों की प्रवृत्ति

स्मरंति परद्रव्याणि मोहान्मूढाः प्रतिक्षणं ।
शिवाय स्वं चिदानंदमयं नैव कदाचन ॥18॥
यह मोह से प्रतिक्षण करे पर द्रव्य स्मृति अज्ञ पर ।
शिव हेतु निज चिन्मय चिदानन्दी करे नहिं ध्यान यह ॥९.१८॥

अन्वयार्थ : मूढ़ मनुष्य मोह के वश हो प्रति समय पर-द्रव्य का स्मरण करते है; परन्तु मोक्ष के लिये निज शुद्धचिदानंद का कभी भी ध्यान

नहीं करते ।

जीव के वास्तविक शत्रु

मोह एव परं वैरी नान्यः कोऽपि विचारणात् ।

ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरात् ॥19॥

नित सोच तो हो ज्ञात बैरी मोह ही नहिं अन्य है ।

यों सुधी को सब यत्न से, यह बली जय के योग्य है ॥९.१९॥

अन्वयार्थ : विचार करने से मालूम हुआ है कि यह मोह ही जीवों का अहित करने वाला महा-बलवान बैरी है । इसी के आधीन हो जीव नाना प्रकार के क्लेश भोगते रहते हैं, इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं -- आत्मा के स्वरूप के जानकार हैं, उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले इस मोह को जीतें ।

भव-कूप से निकलने का उपाय

भवकूपे महामोहपंकेऽनादिगतं जगत् ।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्जवा सर्वं समुद्धरे ॥20॥

यह जग अनादि से, महा मोह पंकमय भवकूप में ।

डूबा अत: बाहर निकालूँ शुद्ध चित् ध्यान रज्जु से ॥९.२०॥

अन्वयार्थ : यह समस्त जगत अनादिकाल से संसार रूपी विशाल कूप के अंदर महामोहरूपी कीचड में फंसा हुआ है, इसलिये अब मैं शुद्धचिद्रूप के ध्यान रूपी मजबूत रस्सी के द्वारा इसका उद्धार करूंगा ।

जीव का शत्रु मोह कहने में हेतु

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।

तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥21॥

सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, अतिरिक्त मोहज कार्य हैं ।

उनसे बँधें बहु दु:ख भोगें, यों महा रिपु मोह है ॥९.२१॥

अन्वयार्थ : संसार में सिवाय शुद्धचिद्रूप के ध्यान के, जितने कार्य हैं सब मोहज (मोह जन्य) हैं । सबकी उत्पत्ति में प्रधान कारण मोह है तथा मोह से कर्मों का बंध और उससे अनंते क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये सबसे अधिक जीवों का बैरी मोह ही है ।

आत्म-ध्यान करने की प्रेरणा

मोहं तज्जातकार्याणि संगं हित्वा च निर्मलं ।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कुरु त्यक्त्वान्यसंगतिं ॥22॥

सब अन्य संगति मोह मोहज कार्य तज शुद्ध मल रहित ।

चिद्रूप का सद्ध्यान कर, यदि चाह शिव-सुख तन-रहित ॥९.२२॥

अन्वयार्थ : अतः जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुये समस्त कार्यों का सर्वथा त्याग कर दें - उनकी ओर झांककर

भी न देखें और समस्त परद्रव्यों से ममता छोड़ केवल शुद्ध-चिद्रूप का ही मनन, ध्यान और स्मरण करें ।

आत्मा को नहीं देख पाने का कारण

निरंतरमहंकारं मूढाः कुर्वंति तेन ते ।

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं विलोकंते न निर्मलं ॥1॥

नित अहंकाराधीन रहते, अज्ञ इससे कभी वे ।
आत्मीय शुद्ध चिद्रूप निर्मल, सत्त्व को नहिं देखते ॥१०.१॥
अन्वयार्थ : मूढ़ पुरुष निरंतर अहंकार के वश रहते हैं - अपने से बढ़कर किसी को भी नहीं समझते, इसलिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूप की ओर वे जरा भी नहीं देख पाते ।

अहंकार

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विऽजोहं द्विजोऽथवा ॥2॥
मैं देह कर्म स्वरूप हूँ, नर थूल कृश द्विज अद्विज हूँ ।
मैं गौर वर्णी श्याम वर्णी, अन्य भी बहु रूप हूँ ॥१०.२॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥3॥
विद्वान मूरख धनी निर्धन आदि बहुविध रूप मैं ।
इत्यादि चिन्तन जीव का, अहंकार कहते हैं इसे ॥१०.३॥

आत्मा की प्राप्ति निरहंकारी को

ये नरा निरहंकारं वितन्वंति प्रतिक्षणं ।
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवंति न संशयः ॥4॥
जो जीव निरहंकारमय, परिणाम प्रतिक्षण बड़ाते ।
संशय नहीं अद्वैत चिद्रूप, प्राप्त करते नियम से ॥१०.४॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य प्रति समय निरहंकारता की वृद्धि करते रहते हैं, अहंकार नहीं करते; उन्हें निस्संदेह अद्वैतस्वरूप स्वचिद्रुप की प्राप्ति होती है ।

स्वरूप-उपलब्धि का उत्कृष्ट कारण

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥5॥
मैं तन नहीं नहिं कर्म नर, द्विज अद्विज थूल कृशी नहीं ।
चिद्रूप लक्षणमय सदा मैं शुद्ध आतम एक ही ॥१०.५॥
चिंतनं निरहंकारो भेदविज्ञानिनामिति ।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं परं ॥6॥
नित भेद-विज्ञानी का चिन्तन, यही निरहंकार है ।
बस यही शुद्ध चिद्रूप लब्धि का परम सत् हेतु है ॥१०.६॥

स्वरूप-प्राप्ति की अपात्रता

ममत्वं ये प्रकुर्वंति परवस्तुषु मोहिनः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥7॥
जो मोह-वश पर वस्तुओं में, ही ममत्व करें सदा ।
वे शुद्ध चिद्रूप प्राप्त करने, में समर्थ नहीं सदा ॥१०.७॥
अन्वयार्थ : जो मूढ़ जीव पर-पदार्थों में ममता रखते हैं, उन्हें अपनाते हैं - उन्हें स्वप्न में भी शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

ममत्व

शुभाशुभानि कर्माणि मम देहोऽपि वा मम ।

पिता माता स्वसा भ्राता मम जायात्मजात्मजः॥8॥

हैं शुभ अशुभ मेरे करम, माता पिता तन भ्रात भी ।

सुत सुता पत्नी बहिन आदि, सदा हैं मेरे सभी ॥१०.८॥

गौरश्वोऽजो गजो रा विरापणं मंदिरं मम ।

पूः राजा मम देशश्च ममत्वमिति चिंतनम् ॥9॥

गज अज नगर धन गाय घोड़ा, देश पक्षी घर सभी ।

बाजार राजा आदि मेरे, यों विचार ममत्व ही ॥१०.९॥

स्वरूप-प्राप्ति-हेतु निर्ममत्व भाव ही कर्तव्य

निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणां ।

तस्मात्तदर्थिना चिंत्यं तदेवैकं मुहूर्मुहुः ॥10॥

नित सुधी को चिद्रूप की, लब्धि हुई निर्ममत्व से ।

अतएव बारम्बार, निर्मता विचारो चाहते ॥१०.१०॥

अन्वयार्थ : जिन किन्हीं विद्वान मनुष्यों को शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हुई है, उन्हें शरीर आदि परपदार्थों में ममता न रखने से ही हुई है, इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे निर्ममत्व का ही बार-बार चिंतवन करें, उसी की ओर अपनी दृष्टि लगाये ।

निर्ममत्व-चिंतन

शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोऽपि नो मम ।

पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मजः ॥11॥

हैं नहीं मेरे शुभ अशुभ, ये कर्म तन माता पिता ।

भाई बहिन पत्नि सुता, सुत नहीं मेरे सर्वथा ॥१०.११॥

गौरश्वो गजो रा विरापणं मंदिरं न मे ।

पू राजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चितनं॥12॥

गज गाय घोड़ा घर नगर, बाजार राजा देश भी ।

धन खगादि मेरे नहीं, यों सोच निर्ममता यही ॥१०.१२॥

बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः ।

बंधनं द्वयक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥13॥

'ये मेरे' चिन्तन से बँधे, 'मेरे नहीं' से छूटते ।

यों दो (मम) से बन्धन, तीन अक्षर (मम न) मोक्ष हेतु हैं कहें ॥१०.१३॥

अन्वयार्थ : 'स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं ' इस प्रकार के चिंतन से कर्मों का बंध होता है और 'ये मेरे नहीं' ऐसा चिंतन से कर्म नष्ट होते हैं, इसलिये 'मम (मेरे)' ये दो अक्षर तो कर्मबंध के कारण हैं और 'मम न' (मेरे नहीं) इन तीन अक्षरों के चितवन करने से कर्मों की मुक्ति होती है ।

निर्ममत्व-चिंतन-हेतु प्रेरणा

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं ।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥14॥
है निर्ममत्व श्रेष्ठ तत्त्व, ध्यान व्रत सुख शील भी ।
इन्द्रिय निरोधादि यही, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१४॥

अन्वयार्थ : यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्त्व है, परम ध्यान, परम व्रत, परम सुख, परम शील है और इससे इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है, इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे इस शुद्धचिद्रूप का ही ध्यान करें ।

याता ये यांति यास्यंति भदंता मोक्षमव्ययं ।
निर्ममत्वेन ते तस्मान्निमर्मत्वं विचिंतयेत् ॥15॥
जो मुक्त अविनाशी हुए, हो रहे होंगे वे सभी ।
इस निर्ममत्व उपाय से, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१५॥

अन्वयार्थ : जो मुनिगण मोक्ष गये, जा रहे हैं और जायेंगे उनके मोक्ष की प्राप्ति में यह निर्ममत्व ही कारण है; इसी की कृपा से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई है, इसलिये मोक्षाभिलाषियों को निर्ममत्व का ही ध्यान करना चाहिये ।

निर्ममत्वे तपोऽपि स्वादुत्तमं पंचमं व्रतं ।
धर्मोऽपि परमस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥16॥
है श्रेष्ठ निर्ममता में तप, परिग्रह रहित व्रत श्रेष्ठ ही ।
है धर्म सर्वोत्तम यही, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१६॥

अन्वयार्थ : पर-पदार्थों की ममता न रखने से - भले प्रकार निर्ममत्व के पालन करने से, उत्तम तप और पाँचवें निष्परिग्रह नामक व्रत का पूर्णरूप से पालन होता है, सर्वोत्तम धर्म की भी प्राप्ति होती है इसलिये यह निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ।

निर्ममत्वाय न क्लेशो नान्ययांचा न चाटनं ।
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥17॥
निर्ममत्व-हेतु क्लेश नहिं, नहिं याचना चाटन नहीं ।
नहिं सोच नहिं धन व्यय कभी, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१७॥

अन्वयार्थ : इस निर्ममत्व के लिये न किसी प्रकार का क्लेश भोगना पड़ता है, न किसी से कुछ मांगना और न चाटुकार (चापलसी) करना पड़ता है । किसी प्रकार की चिंता और द्रव्य का व्यय भी नहीं करता पडता, इसलिये निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ।

नास्रवो निर्ममत्वेन न बंधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्मभत्वं विचिंतयेत् ॥18॥
निर्ममत्व से आस्रव नहीं, अशुभों का बन्धन भी नहीं ।
नहिं हों असंयम आदि कुछ, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१८॥

अन्वयार्थ : इस निर्ममत्व से अशुभ कर्म का आस्रव और बंध नहीं होता, संयम में भी किसी प्रकार की हानि नहीं आती - वह भी पूर्णरूपसे पलता है, इसलिये यह निर्ममत्व ही चिंतवन करने योग्य पदार्थ है ।

फल बताकर इसकी पुष्टि

सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी निर्ममत्वेन संयमी ।
तपस्वी च भवेत् तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥19॥
सद्दृष्टि सद् ज्ञानी सभी, हों निर्ममत्व से संयमी ।
होते तपस्वी भी यही, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.१९॥

अन्वयार्थ : इस निर्ममत्व की कृपा से जीव सम्यगदृष्टि, ज्ञानवान, संयमी और तपस्वी होता है, इसलिये जीवों को निर्ममत्व का ही चिंतवन

कार्यकारी है ।

उपलब्धि बताकर इसी निर्ममत्व की प्रेरणा

रागद्वेषादयो दोषा नश्यंति निर्ममत्वतः ।
शाम्यार्थी सततं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥20॥
निर्ममत्व से ही राग द्वेषादि विकार मिटें सभी ।
ध्या सतत साम्यार्थी यदि, यों भाओ निर्ममता सभी ॥१०.२०॥
अन्वयार्थ : इस निर्ममत्व के भले प्रकार पालन करने से राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं, इसलिये जो मनुष्य समता (शांति) के अभिलाषी हैं - अपनी आत्मा को संसार के दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने मन को सब ओर से हटाकर शुद्धचिद्रूप की ओर लगावें ।

स्वरूप-प्राप्ति की पात्रता

विचार्यत्थमहंकारममकारौ विमुंचति ।
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा ॥21॥
यों सोच जो अहंकार सब, ममकार छोड़ें वे मुनि ।
नित शुद्ध चिद्रूप आत्मा का, ध्यान पाते शीघ्र ही ॥१०.२१॥
अन्वयार्थ : इस प्रकार जो मुनि अहंकार और ममकार को अपने वास्तविक स्वरूप-शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के नाश करने वाले समझ उनका सर्वथा त्याग कर देता है, अपने मन को रंचमात्र भी उनकी ओर जाने नहीं देता, उसे शीघ्र ही संसार में शुद्धचिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति हो जाती है ।

शुद्ध-चिद्रूप की रुचिवालों की विरलता

शांताः पांडित्ययुक्ता यमनियमबलत्यागरैवृत्तवंतः ।
सद्गोशीलास्तपोर्चानुतिनतिकरणा मौनिनः संत्यसंख्याः ।
श्रोतारश्चाकृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गेऽपिधीराः
निःसंगाः शिल्पिनः कश्चन तु विरलः शुद्धचिद्रूपरक्तः ॥1॥
बहु शान्त यम विद्वान त्यागी, नियमयुत वृत्ति बली ।
तप-शीलयुत पूजा नमन, स्तुति वक्ता श्रेष्ठ भी ॥
मौनी कृतज्ञी व्यसन बिन, इन्द्रिय-जयी उपसर्ग में ।
नित धीर परिग्रह-रहित शिल्पी, श्रेष्ठ श्रोता शास्त्र के ॥
इत्यादि बहु-विध गुणों, उच्च विशेषताओं से सहित ।
बहु नर परन्तु अति विरल, चिद्रूप निज में ही निरत ॥१॥
अन्वयार्थ : [अत्र] इस-लोक में [शान्ता] शान्त मनवाले [पाण्डित्य-युक्ता] विद्वत्ता से सहित [यम-नियम-बल-त्याग-रै-वृत्त-वन्त] यमवान, नियमवान, बलवान, त्यागवान, धनवान, चारित्रवान [सत्-गो] यथार्थ वक्ता [शीला] शीलवान [तप:-अर्चा-नुति-नति-करणा] तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करनेवाले [मौनिन] मौनी च] और [श्रोतार] सुननेवाले [कृतज्ञा] किए हुए उपकार को जाननेवाले [व्यसन-खजयिन] व्यसन और इन्द्रियों को जीतनेवाले [उपसर्गे] उपसर्ग में [अपि] भी [धीरा] निश्चल रहनेवाले [निस्संगा] अपरिग्रही [शिल्पिन] कलाओं के जानकार [असंख्या] अनेकों [संति] हैं [तु] परंतु [शुद्ध-चिद्रूप-रक्त] शुद्ध-चिद्रूप में आसक्त [कश्चन] कोई [विरल] बिरला है ॥१॥
ये चैत्यालयचैत्यदानमहसद्यात्रा कृतौ कौशला
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ ।

निःसंगाश्च तपस्विनोपि बहवस्ते संति ते दुर्लभा
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये ॥2॥
बहु करें जिनमन्दिर मूर्ति, दान उत्सव यात्रा ।
करने में कौशल परीषह-जय, शास्त्रज्ञ पर-कारिता ॥
निस्संग तपसी आदि हैं बहु नर परन्तु अति विरल ।
सब मोह राग द्वेष मेटन शील चिन्मय लीन नित ॥२॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [चैत्यालय-चैत्य-दान-महसत्-यात्रा कृतौ] जिन-मन्दिर के निर्माण में, प्रतिमा-दान में, महा उत्सव करने, तीर्थों की यात्रा करने में [कौशला] प्रवीण (हैं) [नाना-शास्त्र-विद] विविध शास्त्रों के जानकार [परीषह-सहा] परिषह सहनेवाले [पर उपकृतौ] पर का उपकार करने में [रक्ता] आसक्त [निस्संगा] अपरिग्रही [च] और तपस्विन] तपस्वी [अपि] भी [सन्ति] हैं [ते] वे [बहव] अनेकों हैं (परन्तु) [ये] जो [राग-द्वेष-विमोह-वर्जन-परा] राग, द्वेष, मोह के पूर्णतया त्याग में लगे हुए [च] और [चित्-तत्त्व-लीना] चेतन-तत्त्व में स्थिर हैं [ते] वे [दुर्लभा] बिरले (हैं) ॥२॥

गणकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तु शब्दशास्त्रज्ञाः ।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः ॥3॥
बहु ज्योतिषी तार्किक चिकित्सक, वास्तु व्याकरणादि विद् ।
संगीत पौराणिक निपुण, हैं अनेकों नहिं तत्त्वविद् ॥३॥

अन्वयार्थ : [गणक-चिकित्सक-तार्किक-पौराणिक-वास्तु-शब्द-शास्त्रज्ञा] ज्योतिषी, वैद्य, तार्किक, पुराण के वेत्ता, पदार्थ-विशेषज्ञ, व्याकरण-शास्त्र के ज्ञाता [संगीत+आदिषु] संगीत आदि में [निपुणा] प्रवीण [सुलभा] (अनेकों होने से मिलना, होना) सुलभ हैं [हि] परन्तु [तत्त्व-वेत्तार] तत्त्व के जानकार (अति विरल हैं) ॥३॥

सुरूपबललावण्यधनापत्यगुणान्विताः ।
गांभीर्यधैर्यधौरेयाः संत्यसंख्या न चिद्रताः ॥4॥
अति रूप बल लावण्य धन, गम्भीर सुत धीर-वीरता ।
इत्यादि गुण युत अनेकों, पर विरल चिन्मय-लीनता ॥४॥

अन्वयार्थ : [सुरूप-बल-लावण्य-धन-अपत्य-गुण+अन्विता] सुन्दर रूप, उत्कृष्ट बल, लावण्य/सौन्दर्य, धन, सन्तान, गुणों से सम्पन्न [गांभीर्य-धैर्य-धौरेया] गंभीरता, धीरता, वीरता-सम्पन्न [असंख्या] अनेकों [संति] हैं [(परन्तु) चित्-रता] चैतन्य में लीन [न] नहीं हैं ॥४॥

जलद्यूतवनस्त्रीवियुद्धगोलकगीतिषु ।
क्रीडंतोऽत्र विलोक्यंते घनाः कोऽपि चिदात्मनि ॥5॥
जल जुआ वन स्त्री विहग, युद्ध गोलिमार गीतादि में ।
क्रीड़ा करें बहु नर परन्तु, विरल स्थिर स्वयं में ॥५॥

अन्वयार्थ : [अत्र] इस-लोक में [जल-द्यूत-वन-स्त्री-वि-युद्ध-गोलक-गीतिषु] जल में, जुआ में, वन में, स्त्रिओं में, पक्षिओं के युद्ध में, गोली-मार, गीत में [क्रीडन्त] क्रीड़ा करनेवाले [घना] अनेकों [विलोक्यन्ते] देखे जा सकते हैं [(परन्तु) चित्+आत्मनि] चैतन्य-स्वरूप में (क्रीड़ा करनेवाला) [क:+अपि] कोई विरल ही है ॥५॥

सिंहसर्पगजव्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ ।
रताः संत्यत्र बहवो न ध्याने स्वचिदात्मनः ॥6॥
सिंह सर्प हाथी व्याघ्र आदि, अहितकर को वश करण ।
तल्लीन रहते अनेकों, चिद्रूप ध्याता हैं विरल ॥६॥

अन्वयार्थ : [अत्र] यहाँ [सिंह-सर्प-गज-व्याघ्र+अहित+आदीनां] शेर, साँप, हाथी, व्याघ्र, अहित-कर/शत्रु आदि को [वशीकृतौ] वश में करने-हेतु [रता] संलग्न बहव] अनेकों [सन्ति] हैं [(परन्तु) स्व-चित्+आत्मन] अपने चिद्रूप के [ध्याने] ध्यान में (लीन) [न] नहीं हैं ॥६॥

चिद्रूप में लीन व्यक्ति विरलों में भी विरल

जलाग्निरोगराजाहिचौरशत्रुनभस्वतां ।
दृश्यंते स्तंभने शक्ताः नान्यस्य स्वात्मचिंतया ॥7॥
जल आग राजा रोग अहि, रिपु चोर वायु शक्ति को ।
रोधन समर्थ अनेक विरले अन्य तज ध्या स्वयं को ॥७॥

अन्वयार्थ : [जल+अग्नि-रोग-राजा+अहि-चौर-शत्रु-नभस्वतां] जल, आग, रोग, राजा, सर्प, चोर, शत्रु, वायु के [स्तम्भने] स्तम्भन में [शक्ता] समर्थ [दृश्यन्ते] दिखाई देते हैं [(परन्तु) स्व+आत्म-चिंतया] अपने स्वरूप के चिंतन द्वारा [अन्यस्य] पर का (लक्ष्य छोड़नेवाले) [न] नहीं हैं ॥७॥

प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति चिंतनं परवस्तुनः ।
सर्वे व्यामोहिता जीवाः कदा कोऽपि चिदात्मनः ॥8॥
मोहित सभी चिन्तन करें, पर वस्तुओं का प्रतिक्षण ।
अति विरल हैं चिन्मय निजातम, ध्यान करते प्रतिक्षण ॥८॥

अन्वयार्थ : [व्यामोहिता] अन्य में विशेष रूप से मोहित [सर्वे] सभी [जीवा] जीव [प्रतिक्षणं] प्रति-समय [पर-वस्तुन] पर-पदार्थों का [चिंतनं] चिन्तन [प्रकुर्वन्ति] विशेष रूप से करते हैं [(परन्तु) [चित्+आत्मन] चित्स्वरूप का (चिन्तन) [कदा] कभी [क:+अपि] कोई ही (करता है) ॥८॥

इसकी गुणों की अपेक्षा पुष्टि

दृश्यंते बहवो लोके नानागुणविभूषिताः ।
विरलाः शुद्धचिद्रूपे स्नेहयुक्ता व्रतान्विताः ॥9॥
बहुविध गुणों से सुशोभित, जग में अनेकों हैं सदा ।
निज शुद्ध चिद्रूप में रुचि, व्रत विभूषित विरले सदा ॥९॥

अन्वयार्थ : [लोके] लोक में [नाना-गुण-विभूषिता] अनेक गुणों से सुशोभित [बहव] अनेकों [दृश्यन्ते] दिखाई देते हैं [(परन्तु) शुद्ध-चिद्रूपे] शुद्ध-चिद्रूप में [स्नेह- युक्ता] प्रीतिवान [व्रत+अन्विता] व्रतों से सुशोभित [विरला] विरल (हैं) ॥९॥

शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की पात्रता

एकेन्द्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ॥10॥
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षा भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥11॥
एकेन्द्रियों से असंज्ञी तक, अनन्तानन्त पर्याप्तक ।
हैं नहीं उनमें योग्यता, निज शुद्ध आतम की समझ ॥१०॥
जो पाँच इन्द्रिय पूर्ण मन नर, निकट भव्यत्व पा हुए ।
हैं आर्य सद्बुद्धी सहित, वे ही निजातम समझते ॥११॥

अन्वयार्थ : [एकेन्द्रियात्] एकेन्द्रिय से [असंज्ञ+आख्या-पूर्ण-पर्यंतदेहिन] असंज्ञी नामक पंचेन्द्रिय पर्यन्त शरीर-धारी [अनन्त+अनन्तमा] अनन्तानन्त संति] हैं [तेषु] उनमें [तादृश] उस प्रकार का [क:+अपि] कुछ भी [न] नहीं है / उनमें आत्माराधना की सामर्थ्य नहीं है [पंच+अक्ष-संज्ञि-पूर्णेषु] पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तकों में [केचित्] कोई [आर्या] आर्य [सुबुद्धय] सुबुद्धि-सम्पन्न [आसन्न-भव्यतां] निकट भव्यता को [च] और [नृत्वं] मनुष्यता को [आलभ्य] प्राप्त कर [तादृक्षा] उस प्रकार की योग्यतावाले [भवन्ति] होते हैं ॥११-१२॥

मनुष्य-लोक से बाहर इसकी दुर्लभता

शुद्धचिद्रूपसंलीनाः सव्रता न कदाचन ।
नरलोकबहिर्भागेऽसंख्यातद्वीपवार्धिषु ॥12॥
नर लोक बाहर असंख्यातों, द्वीप सागर में रहें ।
सब भोगभूमिज शुद्ध चिद्रूप, लीन व्रत युत नहीं हैं ॥१२॥
अन्वयार्थ : [नर-लोक-बहि:भागे] मनुष्य-लोक से बाहर के भाग में [असंख्यातद्वीप-वार्धिषु] असंख्यात द्वीप-समुद्रों में [कदाचन] कभी भी [सव्रता] (महा) व्रत-सहित [शुद्ध-चिद्रूप-संलीना] शुद्ध-चिद्रूप में भली-भाँति लीन [न] नहीं होते हैं ॥१२॥

अन्य क्षेत्रों में भी इसकी दुर्लभता

अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वतः ।
ते भवंति न ज्योतिष्के हा हा क्षेत्रस्वभावतः ॥13॥
है क्षेत्रगत स्व-भाव ऊर्ध्व अधो रु ज्योतिर्लोक में ।
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान, व्रतमय आचरण नहिं हो सके ॥१३॥
अन्वयार्थ : [हा-हा] आश्चर्य है कि [क्षेत्र-स्वभावत] क्षेत्र के स्वभाव से [सर्वस्मिन् अधोलोके] सम्पूर्ण अधो-लोक में [सर्वत] सभी ओर से [ऊर्ध्वलोके+अपि] ऊर्ध्व-लोक में भी [ज्योतिष्के] ज्योतिर्लोक में [ते] वे / व्रत-सहित स्वरूप-साधक [न] नहीं होते हैं ॥१३॥

योग्यता के अभाववाले मनुष्य-लोक का प्ररूपण

नरलोकेपि ये जाता नराः कर्मवशाद् घनाः ।
भोगभूम्लेच्छखंडेषु ते भवंति न तादृशः ॥14॥
नर लोक में भी तीव्र कर्मोंदयों से भोग भू म्लेच्छ ।
भू-खण्ड में जन्में समर्थ नहीं व्रतादि में समझ ॥१४॥
अन्वयार्थ : [नर-लोके+अपि] मनुष्य-लोक में भी [ये] जो [घना] अनेकों [नरा] मनुष्य [कर्म-वशात्] कर्म के उदय-वश [भोग-भू-म्लेच्छ-खण्डेषु] भोगभूमि और म्लेच्छ-खण्डों में [जाता] उत्पन्न होते हैं [ते] वे [तादृश] उस प्रकार की योग्यतावाले [न] नहीं [भवन्ति] होते हैं ॥१४॥

आर्य-खण्ड में भी उस प्रकार की योग्यतावाले विरल

आर्यखंडभवाः केचिद् विरलाः संति तादृशाः ।
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः स्युरद्य न कदापि वा ॥15॥
जो आर्य खण्डों में हुए, उनमें विरल इस योग्य हैं ।
पर अभी तो इस क्षेत्र में, दो तीन या फिर नहीं हैं ॥१५॥
अन्वयार्थ : [आर्य-खण्ड-भवा] आर्य-खण्ड में उत्पन्न हुए [केचित्] कोई [विरला] विरल [तादृशा] उस प्रकार की योग्यता-सम्पन्न [संति] हैं [अस्मिन्] इस [क्षेत्रे] क्षेत्र में [भवा] जन्म लेनेवाले [द्वित्रा] दो, तीन (ही हैं) [वा] अथवा [अद्य] आज [कदापि] कभी/कोई भी [न] नहीं [स्यु] हैं ॥१५॥

धार्मिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर विरलता

अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिकाः ।
सम्यक्त्वसहितास्तत्र तत्राणुव्रतधारिणः ॥16॥
महा-व्रत-धरा धीरा: संति चात्यंत-दुर्लभा: ।

तत्त्वातत्त्व-विदस्तेषु चिद्रक्तोऽत्यंत-दुर्लभ: ॥17॥
हैं जैन पाक्षिक भी अभी तो, विरल ही इस क्षेत्र में ।
उनमें सदा सम्यक्त्व-युत, अणुव्रती नित विरले रहें ॥१६॥
उनमें अति दुर्लभ सुधीर, महान व्रतधारी सदा ।
उनमें भी तत्त्व-अतत्त्व-विद्, चिद्रूप-रत दुर्लभ महा ॥१७॥
अन्वयार्थ : [अस्मिन्] इस [क्षेत्रे] क्षेत्र में [अधुना] इस समय [जैन-पाक्षिका] पाक्षिक जैन [विरला] विरल [संति] हैं [तत्र] उनमें भी [सम्यक्त्व-सहिता] सम्यक्त्व से सहित [तत्र] उनमें भी [अणु-व्रत-धारिण] अणु-व्रत-धारक/देश-संयमी [धीरा] धीरता-सम्पन्न [महा-व्रत-धरा] महा-व्रत धारण करनेवाले [अत्यन्त-दुर्लभा] अत्यन्त विरल [संति] हैं [तेषु] उनमें भी [तत्त्व-अतत्त्व-विद] तत्त्व और अतत्त्व के जानकार [च] और [चित्-रक्त] चिद्रूप में आसक्त [अत्यन्त-दुर्लभ] अत्यधिक विरल हैं ॥१६-१७॥

स्वरूप-साधक ही सर्वोत्तम

तपस्विपात्रविद्वत्सु गुणिसद्गतिगामिषु ।
वंद्यस्तुत्येषु विज्ञेयः स एवोत्कृष्टतां गतः ॥18॥
चिद्रूप-रत ही तपस्वी, विद्वान गुणयुत वन्द्य में ।
स्तुत्य पात्र सुपथ-चरी में श्रेष्ठतम आत्मस्थ हैं ॥१८॥
अन्वयार्थ : [तपस्वि-पात्र-विद्वत्सु] तपस्विओं, पात्रों, विद्वानों में [गुणीसत्-गति-गामिषु] गुणिओं में, सन्मार्ग पर चलनेवालों में [वंद्य:-स्तुत्येषु] वन्दनीय, स्तुति करने-योग्य व्यक्तिओं में [स: एव] वही / स्वरूप-साधक ही [उत्कृष्टतां] श्रेष्ठता को [गत] प्राप्त है [(ऐसा) विज्ञेय] जानना चाहिए ॥१८॥

उसी विरलता की पुष्टि

उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यंतवर्जिते स्तोकाः ।
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता भवंति केचित्कदाचिच्च ॥19॥
इस अनाद्यनन्त समयमयी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ।
में शुद्ध चिद्रूप-लीन, व्रत संयुक्त होते कहिं कभी ॥१९॥
अन्वयार्थ : [अन्+आदि+अन्त-वर्जिते] आदि-अंत से रहित / अनादि-अनन्त [उत्सर्पिणी+अवसर्पण-काले] उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल में [चित्-रक्ता] चैतन्य में लीन [व्रत-युक्ता] व्रत-सम्पन्न [केचित्] कोई [च] और [कदाचित्] कभी [स्तोका] अल्प [भवन्ति] होते हैं ॥१९॥

विरलता गुणस्थान की अपेक्षा

मिथ्यात्वादिगुणस्थानचतुष्के संभवंति न ।
शुद्धचिद्रूपके रक्ता व्रतिनोपि कदाचन ॥20॥
पंचमादिगुणस्थानदशके तादृशोंऽगिनः ।
स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेयं स्तोकजीवसमाश्रिते ॥21॥
मिथ्यात्व आदि चार गुण-स्थान में संभव कभी ।
भी हैं नहीं चिद्रूपरत, व्रत सहित चौथे समकिती ॥२०॥
हैं पंचमादि दश गुणस्थानों में चिद् रत व्रत सहित ।
अत्यल्प जीव सुयोग्य, आतम निष्ठ ज्ञानी ज्ञेय नित ॥२१॥
अन्वयार्थ : [शुद्ध-चिद्रूपके] शुद्ध-चिद्रूप में [रक्ता] आसक्त [(और) व्रतिन:+अपि] व्रती भी [मिथ्यात्व+आदि-गुण-स्थान-चतुष्के] मिथ्यात्व आदि चार गुण-स्थानों में [कदाचन] कभी भी [न] नहीं [संभवन्ति] होते हैं [स्तोक-जीव-समाश्रिते] अल्प जीवों की

विद्यमानतावाले [पंचम+आदि-गुणस्थान-दशके] पाँचवें आदि दश गुणस्थाना में [तादृशा] उस प्रकार की योग्यतावाले [अंगिन] जीव [स्यु] होते हैं [इति] ऐसा ज्ञानिना] ज्ञानी द्वारा [ज्ञेयं] जानने-योग्य है ॥२०-२१॥

आत्माराधकों की दुर्लभता

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्रंविकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखेकूपवापीतडागे
रक्ताश्चप्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥22॥
बहु जीव लीन सुगन्ध में, सुत सुता माता पिता में ।
स्त्री अनुज घर नगर वाहन, राज खग नग भोग में ॥
पंचेन्द्रियों के भोग तन वन, व्यसन खेती बावड़ी ।
सर कूप यश प्रेषण पशु, संरक्षणादि लीन ही ॥
इत्यादि बहुविध भाव वस्तु, प्रीति में जग लीन है ।
पर शुद्ध चिद्रूप ध्यान में, निज आत्म में नहिं लीन हैं ॥२२॥
अन्वयार्थ : [गंधन+आदौ] सुगंधित पदार्थ में [अनुज-सुत-सुता-भीरु-पितृ-अंबिकासु] छोटे भाई, पुत्र, पुत्री, पत्नी, पिता, माता में [ग्रामे] ग्राम में [गेहे] घर में [ख-भोगे] इन्द्रियों के भोग में [नग-नगर-खगे] पर्वत, नगर, पक्षी में [वाहने] वाहन में [राज-कार्ये] राज-कार्य में [आहार्ये] भोजन में [अंगे] देह में [वन+आदौ] वन आदि में [व्यसन-कृषि-मुखे] व्यसन, खेती, मुख में [कूप-वापी-तडागे] कुँआ, बावड़ी, तालाब में [प्रेषण-आदौ] इधर-उधर भेजने आदि में [यशसि] यश में [पशु-गणे] पशु-समूह में रक्ता] अनुराग करते हैं [(परन्तु) शुद्ध-चिद्रूपके] शुद्ध-चिद्रूप में (अनुरक्त) [न] नहीं (होते हैं) ॥२२॥

रत्नत्रय से ही स्वरूप की उपलब्धि

रत्नत्रयोपलंभेन विना शुद्धचिदात्मनः ।
प्रादुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे ॥1॥
सत् रत्नत्रय की प्राप्ति बिन, चिन्मय निजातम शुद्धता ।
की प्रगटता होती नहीं, यों जिनागम में है कहा ॥१॥
अन्वयार्थ : जैन-शास्त्र से यह बात जानी गई है कि बिना रत्नत्रय को प्राप्त किए, आज तक किसी भी जीव को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं हुई । सबको रत्नत्रय के लाभ के बाद ही हुई है ।
विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूपं न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥2॥
नित नहीं पाया सत् रतनत्रय, विना शुद्ध चिद्रूप को ।
नहिं किसी ने न कभी भी, नहिं साधता जो स्वयं को ॥२॥
अन्वयार्थ : बिना रत्नत्रय को प्राप्त किए आज तक किसी मनुष्य ने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपाय से शुद्ध-चिद्रूप को प्राप्त नहीं किया । सभी ने पहले रत्नत्रय को पाकर ही शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति की है ॥२॥

उदाहरण द्वारा पुष्टि

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते ।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात् ॥3॥
ज्यों तप विना ऋद्धि, पिता बिन सुता, वर्षा मेघ बिन ।

त्यों शुद्ध चिद्रूप की प्रगटता, हो नहीं त्रय रत्न बिन ॥३॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार तप के ऋद्धि, पिता के बिना पुत्री और मेघ के बिना वर्षा नहीं हो सकती; उसी प्रकार बिना रत्नत्रय की प्राप्ति के शुद्ध-चिद्रूप की भी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

रत्नत्रय की परिभाषा

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्तनं ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥4॥
सद् दर्श ज्ञान चारित्रमय, इकसाथ आतम प्रवर्तन ।
सम्यक् रत्नत्रय है यही, कहते सभी जिनवर वृषभ ॥४॥

अन्वयार्थ : भगवान जिनेश्वर ने एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति को रत्नत्रय कहा है ।

रत्नत्रय के भेद और प्रगटता का क्रम

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्विधा तत्परिकीर्तितं ।
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत् ॥5॥
यह कहा है दो भेदमय, निश्चय तथा व्यवहार से ।
व्यवहार होने पर सदा, निश्चय प्रगट होता इसे ॥५॥

अन्वयार्थ : यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का कहा गया है और व्यवहार रत्नत्रय हो वहाँ निश्चय रत्नत्रय की प्रगटता होती है ।

व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण, अंग और भेद

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ॥6॥
व्यवहार से तत्त्वार्थ सातों, की सुश्रद्धा सद् दरश ।
अष्टांगयुत औपशमिक आदि, तीन भेदमई कथन ॥६॥

अन्वयार्थ : व्यवहार-नय से सातों तत्वों का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है । इसके आठ अंग हैं तथा औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक के भेद से यह तीन प्रकार का है ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च ।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥7॥
सत् रूप से सब वस्तुएं, स्यात् शब्द पूर्वक वचन सब ।
चित् से जगत में व्याप्त, सबको मानता सद्दृष्टि वह ॥७॥

अन्वयार्थ : जो महानुभाव सत्रूप से समस्त पदार्थों का विश्वास करता है, अनेकान्तरूप से समस्त वचनों को और ज्ञान से समस्त जगत में व्याप्त (सर्व पदार्थों को) देखता है, श्रद्धता है, वह सम्यग्दृष्टि है ।

निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनं ॥8॥
स्वकीय शुद्ध चिद्रूप में, जो रुचि वह परमार्थ से ।

सद् दरश कर्मेन्धन हुताशन, बताया सब विज्ञ ने ॥८॥

अन्वयार्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप में जो रुचि करना है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और यह कर्मरूपी ईंधन के लिये जाज्वल्यमान अग्नि है - ऐसा उसके ज्ञाता ज्ञानियों का मत है ॥८॥

यदि शुद्धं चिद्रूपं निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत् ।
जानन् पश्यन् पश्यति तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात् ॥9॥
त्रैकालगत युगपत् सभी, निज शुद्ध चिद्रूप देखता ।
जो जान श्रद्धा करे वह, परमार्थ से समकित कहा ॥९॥

अन्वयार्थ : जो जीव तीन काल में रहनेवाले आत्मिक शुद्ध समस्त चिद्रूप को एक साथ जानता देखता है, वास्तविक दृष्टि से वही सम्यग्दृष्टि है ।

अष्टांग सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा

ज्ञात्वाष्टांगानि तस्यापि भाषितानि जिनागमे ।
तैरमा धार्यते तद्धि मुक्तिसौख्याभिलाषिणा ॥10॥
शिव सौख्य अभिलाषी, जिनागम कथित आठों अंग को ।
नित जान उनसे सहित, सम्यग्दरश को धारण करो ॥१०॥

अन्वयार्थ : जो महानुभाव मोक्ष सुख के अभिलाषी हैं । मोक्ष की प्राप्ति से ही अपना कल्याण समझते हैं; वे जैन-शास्त्र में वर्णन किए गए सम्यग्दर्शन को उसके आठ अंगों के साथ धारण करते हैं ।

सम्यग्ज्ञान की परिभाषा

अष्टधाचारसंयुक्तं ज्ञानमुक्तं जिनेशिना ।
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासो भवेद् यतः ॥11॥
स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं ।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥12॥
नित आठ आचारों सहित, सब तत्त्व ज्ञाता प्रकाशक ।
है ज्ञान यह व्यवहार-नय से, जिनेश्वर द्वारा कथित ॥११॥
परमार्थ से निज आतमा का, ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
वह कर्मरज नाशक पवन, शिवश्री प्राप्ति-हेतु है ॥१२॥

अन्वयार्थ : भगवान जिनेन्द्र ने व्यवहार-नय से आठ प्रकार के आचारों से युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थों का भली प्रकार प्रतिभास होता है; परन्तु जिससे स्वस्वरूप का ज्ञान हो, (जो शुद्ध-चिद्रूप को जाने) वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है । यह निश्चय सम्यग्ज्ञान, समस्त कर्मों का नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में परम कारण है, इससे मोक्ष-सुख अवश्य प्राप्त होता है ॥११-१२॥

परम-ज्ञान की परिभाषा

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजे भवेत्तत्वात् ।
तत्परमज्ञानं स्याद् बहिरंतरसंगमुक्तस्य ॥13॥
निज मोह विरहित दशा में, बहिरन्त: परिग्रह से रहित ।
का स्वयं चिद्रूप अनुभवन, उत्कृष्ट ज्ञान कहा नियत ॥१३॥

अन्वयार्थ : मोह का सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित पुरुष जो आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का अनुभव करता है, वही वास्तविकरूप से परम ज्ञान है ॥१3॥

व्यवहार-चारित्र की परिभाषा

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ॥14॥
सावद्य से नित निवृत्ति, शुभ कर्म वर्तन त्रयोदश ।
विध सच्चरित्र व्यवहार से, सब जान लो जिनवर कथित ॥१४॥

अन्वयार्थ : जहाँ पर सावद्य हिंसा के कारणरूप पदार्थों से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति हो, उसे व्यवहार-चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकार का है ।

मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुनेः ।
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं तच्चारित्रं न चापरं ॥15॥
सद्दर्श ज्ञान सहित मुनि के, मूल उत्तर गुणों का ।
शिव-हेतु पालन कहा चारित्र, है नहीं वह अन्य का ॥१५॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो मूल और उत्तर गुणों का पालन करना है, वह चारित्र है; अन्य नहीं तथा यही चारित्र, मोक्ष का कारण है ॥१५॥

उत्तम-चारित्र की पात्रता

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ॥16॥
लो सकल परिग्रह छोड़, जिन मुद्रा दरश-धी साम्य को ।
धर शुद्ध चिद्रूप ध्यान करता, परम चारित्र उसी को ॥१६॥

अन्वयार्थ : (बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के) परिग्रहों का सर्वथा त्यागकर; जिन-मुद्रा / नग्न-मुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर जो शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करता है, उसी को उत्तम चारित्र होता है ॥१६॥

सम्यक्चारित्र की विशेषता

ज्ञप्त्या दृष्टया युतं सम्यक् चारित्रं तन्निरुच्यते ।
सतां सेव्यं जगत्पूज्यं स्वर्गादिसुखसाधनं ॥17॥
सद्दर्श ज्ञप्ति सहित, सच्चारित्र सेवन-योग्य है ।
सज्जनों को स्वर्गादि सुख, साधन कहा जग-पूज्य है ॥१७॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही सम्यक्-चारित्र सज्जनों को आचरणीय है और वह ही समस्त संसार में पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त करानेवाला है ।

परम चारित्र की परिभाषा

शुद्ध स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरत्यंतनिश्चला ।
तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात् कर्मनाशकृत् ॥18॥
निज शुद्ध चिन्मयरूप में, अत्यन्त निश्चल स्थिति ।
परमार्थ से है कर्म नाशक, जान श्रेष्ठ चारित्र ही ॥१८॥

अन्वयार्थ : आत्मिक शुद्ध-स्वरूप में जो निश्चलरूप से स्थिति है, उसे निश्चय-नय से श्रेष्ठ चारित्र व कर्म-नाश करना, तुम जानो ॥१८॥

निश्चय चारित्र का अस्ति-नास्ति परक स्वरूप

यजि चिद्रूपे शुद्धे स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात् ।
परद्रव्यास्मरणं शुद्धनयादंगिनो वृत्तं ॥19॥
सद्दृष्टि सम्यग्ज्ञान बल से, शुद्ध चिद्रूप स्थिति ।
में यदि हो परद्रव्य विस्मृत, शुद्ध-नय चारित्र ही ॥१९॥
अन्वयार्थ : यदि इस जीव की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बल से शुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति होती है, तब पर-द्रव्यों का विस्मरण, वह शुद्ध-निश्चय-नय से चारित्र समझना चाहिए ।

व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय का संबंध

रत्नत्रयं किल ज्ञेयं व्यवहारं तु साधनं ।
सद्भिश्च निश्चयं साध्यं मुनीनां सद्विभूषणं ॥20॥
व्यवहार रत्नत्रय सु साधन, साध्य है परमार्थ सत् ।
भूषण मुनी का सत् रत्नत्रय, विज्ञ जानें परम हित ॥२०॥
अन्वयार्थ : निश्चय-रत्नत्रय की प्राप्ति में व्यवहार-रत्नत्रय, साधन (कारण) है और निश्चय-रत्नत्रय, साध्य है । यह निश्चय रत्नत्रय, मुनियों का उत्तम भूषण है ॥२०॥

रत्नत्रय का महत्त्व

रत्नत्रयं परं ज्ञेयं व्यवहारं च निश्चयं ।
निदानं शुद्धचिद्रूपस्वरूपात्मोपलब्धये ॥21॥
निज शुद्ध चिद्रूप आत्मा की, प्राप्ति-हेतु श्रेष्ठतम ।
कारण कहा व्यवहार निश्चय, रत्नत्रय अब ग्रहो यह ॥२१॥
अन्वयार्थ : यह व्यवहार और निश्चय - दोनों प्रकार का रत्नत्रय शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है ॥२१॥
स्वशुद्धचिद्रूपपरोपलब्धि कस्यापि रत्नत्रयमंतरेण ।
क्वचित्कदाचिन्न च निश्चयो दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्वदैव ॥22॥
इस रत्नत्रय के विना, शुद्ध चिद्रूप उपलब्धि कभी ।
कैसे कहीं किसको हुई है नहीं हूँ दृढ़ निश्चयी ॥२२॥
अन्वयार्थ : इस शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति, विना रत्नत्रय के आज तक कभी और किसी देश में नहीं हुई । सबको रत्नत्रय की प्राप्ति के अनन्तर ही शुद्ध-चिद्रूप का लाभ हुआ है, यह मेरे आत्मा में दृढ़रूप से निश्चय है ॥२२॥

विशुद्धता सर्वत्र प्रशंसनीय है

विशुद्धं वसनं श्लाघ्यं रत्नं रूप्यं च कांचनं ।
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ॥1॥
ज्यों वस्त्र निर्मल रत्न चाँदी, स्वर्ण बर्तन गृहादि ।
उत्तम प्रशंसा-योग्य त्यों, चिद्रूप निज सर्वोपरि ॥१३.१॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चाँदी, सोना, पात्र, भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशंस्य गिने जाते हैं; उसी प्रकार यह शुद्ध-चिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशंस्य है ।

अशुद्धता और विशुद्धता की परिभाषा

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनांशेन विशुद्धता ॥2॥

है जीव में रागादि लक्षण, अशुद्धि संक्लेशता ।
वह नष्ट जितनी हो, उसी अनुसार है सुविशुद्धता ॥१३.२॥

अन्वयार्थ : पुरुष में राग-द्वेष आदि लक्षण का धारण संक्लेश, अशुद्धपना कहा जाता है और जितने अंश में राग-द्वेष आदि का नाश हो जाता है, उतने अंश में विशुद्धपना कहा जाता है ।

मुमुक्षु को मार्ग-दर्शन

येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपाद्याति वेगतः ।
विशुद्धिरेति चिद्रूपे स विधेयो मुमुक्षुणा ॥3॥
जिस विधि से अति तीव्रता से नष्ट हो संक्लेशता ।
बड़ती विशुद्धि आत्मा में, मुमुक्षु वह कर सदा ॥१३.३॥

अन्वयार्थ : जो जीव मोक्षाभिलाषी हैं, अपने आत्मा को समस्त कर्मों से रहित करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि जिस उपाय से यह संक्लेश दूर हो विशुद्धपना आए, वह उपाय अवश्य करें ।

शुद्धि के साधन

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कर्मावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना –
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्धयै ॥4॥
सत् पूज्य की स्तुति पूजन, नमन आवश्यक करम ।
नित छह व्रतादि धरे दृढ़ता से सुतप सब परिग्रह ॥
का त्याग यात्रा तीर्थ की, नहिं व्यक्तता क्रोधादि की ।
ये सब विशुद्धि के लिए, जिनवर कहें करणीय ही ॥१३.४॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं, उनकी स्तुति, नमस्कार और पूजन करना; सामायिक, प्रतिक्रमण आदि छह प्रकार के आवश्यकों का आचरण करना; सम्यक्चारित्र को दृढ़रूप से धारण करना; उत्तम तप और तीर्थ-यात्रा करना, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना; क्रोध, मान, माया आदि कषायों को उत्पन्न न होने देना आदि विशुद्धि के कारण हैं; इन बातों का आचरण किए विना विशुद्धि नहीं हो सकती ।

मोक्षमार्ग के स्मरण-हेतु प्रेरणा

रागादिविक्रियां दृष्टवांगिनां क्षोभादि मा व्रज ।
भवे तदितरं किं स्यात् स्वच्छं शिवपदं स्मर ॥5॥
रागादि विकृति देख अज्ञों की नहीं क्षोभादि कर ।
इसके अलावा क्या यहाँ? यों स्वच्छ शिव-पद याद कर ॥१३.५॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! मनुष्यों में राग-द्वेष आदि का विकार देख तुझे किसी प्रकार क्षोभ नहीं करना चाहिए; क्योंकि संसार में सिवाय राग आदि विकार के और होना ही क्या है? इसलिए तुम अतिशय विशुद्ध मोक्ष-मार्ग का ही स्मरण करो ।

विशुद्धता-प्राप्ति की पात्रता

विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहितः
सरोगो निःस्वो वा विमतिरगुणः शक्तिविकलः ॥
सदा दोषी निंद्योऽगुरुविधिरकर्मा हि वचनं

वदन्नंगी सोऽयं भवति भुवि वैशुद्धयसुखभाग् ॥6॥
मैं मोह से मिथ्यात्वमय हो, सरोगी निर्धन कुधी ।
अविवेकि दोषी अवगुणी, शक्ति रहित नित आलसी ॥
नित हीन आचरणी इत्यादि, भावना भाए सदा ।
वह विशुद्धि से व्यक्त सुख को भोगता चिद्रूपता ॥१३.६॥
अन्वयार्थ : मैं मोह के कारण विपर्यस्त होकर ही अपने को विवेक-हीन, रोगी, निर्धन, मति-हीन, अगुणी, शक्ति-रहित, दोषी, निन्दनीय, हीन-क्रिया का करनेवाला, अकर्मण्य / आलसी मानता हूँ । इस प्रकार वचन बोलनेवाला (ऐसी भावना करनेवाला) विशुद्धता के सुख का अनुभव करता है ।

गृहस्थों को आत्मोपलब्धि की दुर्लभता

राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात्
दोषोद्भूतेरकीर्त्तेः सततमतिभयं रैनृगोमंदिरस्य ।
चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहीणां तेन तेषां विशुद्धं
चिद्रूपध्यानरत्नं श्रुतिजलधिभवं प्रायशो दुर्लभंस्यात् ॥7॥
राजा अनल जल रिपु मृत्यु, ईति जाति उपद्रव ।
दोषों से फैले अयश, इत्यादि अति भय है सतत ॥
धन नर पशु गृह आदि चिन्ता, नाश में शोकादि भी ।
इस अज्ञ को श्रुत-जलधि जन्मा, शुद्ध चिद्रूप कठिन ही ॥१३.७॥
अन्वयार्थ : संसारी जीवों को राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, बैरी, अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोष और अकीर्ति से सदा भय बना रहता है । धन, कुटुम्बी, मनुष्य, पशु और मकान की चिन्ताएं लगी रहती हैं एवं उनके नाश से शोक होता रहता है; इसलिए उन्हें शास्त्ररूपी अगाध समुद्र से उत्पन्न, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होना नितान्त दुर्लभ है ।

विशुद्धि के लिए हेय का प्ररूपण

पठने गमने संगे चेतनेऽचेतनेऽपि च ।
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा चिंता हेया विशुद्धये ॥8॥
पढ़ने गमन चेतन अचेतन, संग करते कार्य में ।
चिन्ता तजो आतम विशुद्धि-हेतु चेतन चाहते ॥१३.८॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव विशुद्धता का आकांक्षी है, अपने आत्मा को निष्कलंक बनाना चाहता है, उसे चाहिए कि वह पढ़ने, गमन करने, चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह धारने और किसी अन्य कार्य के करने में किसी प्रकार की चिन्ता न करे अर्थात् अन्य पदार्थों की चिन्ता करने से आत्मा विशुद्ध नहीं बन सकता ।

आत्मोपलब्धि की महानता

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णवः ।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनं ॥9॥
है शुद्ध चिद्रूप अंश, सब द्वादशांग श्रुतसागर कहा ।
यों शुद्ध चिद्रूप पा लिया, तो सभी कुछ ही पा लिया ॥१३.९॥
अन्वयार्थ : आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्ध-चिद्रूप का अंश है; इसलिए यदि शुद्ध-चिद्रूप प्राप्त हो गया है, तो मुझे द्वादशांग से क्या प्रयोजन? वह तो प्राप्त हो ही गया ।

शुद्धचिद्रूपके लब्धे कर्तव्यं किंचिदस्ति न ।
अन्यकार्यकृतौ चिंता वृथा मे मोहसंभवा ॥10॥
निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति पर, कर्तव्य कुछ रहता नहीं ।
हो मोह से उत्पन्न कुछ, करने की चिन्ता व्यर्थ ही ॥१३.१०॥
अन्वयार्थ : मुझे संसार में शुद्ध-चिद्रूप का लाभ हो गया है; इसलिए मुझे करने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा; सब कर चुका तथा शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति हो जाने पर अन्य कार्यों के लिए मुझे चिन्ता करना भी व्यर्थ है; क्योंकि यह मोह से होती है अर्थात् मोह से उत्पन्न हुई चिन्ता से मेरा कदापि कल्याण नहीं हो सकता ।

किस चिंतन का क्या फल

वपुषां कर्मणां कर्महेतूनां चिंतनं यदा ।
तदा क्लेशो विशुद्धिः स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥11॥
तन कर्म कारण कर्म की, चिन्ता स्वयं ही क्लेश है ।
निज शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि, विशुद्धि का हेतु है ॥१३.११॥
अन्वयार्थ : शरीर, कर्म और कर्म के कारणों का चिन्तन करना, क्लेश है अर्थात् उनके चिन्तन से आत्मा में क्लेश उत्पन्न होता है और शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से विशुद्धि होती है ।

शुद्ध-चिद्रूप की असमर्थता पर अन्य कार्य

गृही यतिर्न यो वेत्ति शुद्धचिद्रूप लक्षणं ।
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरं ॥12॥
जो गृही या मुनिराज शुद्ध, चिद्रूप चिन्ह न जानते ।
तब उन्हें पंच णवकार आदि, स्मरण ही श्रेष्ठ है ॥१३.१२॥
अन्वयार्थ : जो गृहस्थ या मुनि शुद्ध-चिद्रूप का स्वरूप नहीं जानता, उसके लिए पञ्च परमेष्ठी के मन्त्रों का स्मरण करना ही कार्य-कारी है, उसी से उसका कल्याण हो सकता है ।

सदा सुखी रहने का उपाय

संक्लेशस्य विशुद्धेश्च फ लं ज्ञात्वा परीक्षणं ।
तं त्यतेत्तां भजत्यंगी योऽत्रामुत्र सुखी स हि ॥13॥
जो संक्लेश विशुद्धि का फल, परीक्षा से जान वह ।
छोड़े सदा सेवे यहाँ, पर-लोक में भी सुखी नित ॥१३.१३॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धि के फल को परीक्षा पूर्वक जानकर संक्लेश को छोड़ता है और विशुद्धि का सेवन करता है; उस मनुष्य को इस-लोक, पर-लोक दोनों लोकों में सुख मिलता है ।

संकलेश और विशुद्धि द्वारा विभिन्न कर्म बंध

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां ।
विशुद्धौ मोचनं तेषां बंधो वा शुभकर्मणां ॥14॥
हो अशुभ दुखदाई कर्म का बन्ध नित संक्लेश से ।
छूटे अशुभ शुभ कर्म का हो बन्ध सदा विशुद्धि से ॥१३.१४॥
अन्वयार्थ : क्योंकि संक्लेश के होने से अत्यन्त दु:ख-दाई अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है और विशुद्धता की प्राप्ति से इन अशुभ कर्मों का सम्बन्ध छूटता है तथा शुभ कर्मों का सम्बन्ध होता है ।

विशुद्धि-संक्लेश का कार्य

विशुद्धेः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं मुख्यकारणं ।
संक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितं ॥15॥
सत् शुद्ध चिद्रूप ध्यान का, है मुख्य कारण विशुद्धि ।
संक्लेश है उसका विघातक, जिन निरूपित है यही ॥१३.१५॥

अन्वयार्थ : यह विशुद्धि, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में मुख्य कारण है; इसी से शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होती है और संक्लेश, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान का विघातक है, जब तक आत्मा में किसी प्रकार का संक्लेश रहता है, तब तक शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता ।

वास्तविक अमृत

अमृतं च विशुद्धिः स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितं ।
अत्यंतसेवने कष्टमन्यस्यास्य परं सुखं ॥16॥
है लोक कल्पित नहीं अमृत, विशुद्धि ही सुधा है ।
उसके अति सेवन से दुख, हो परम सुख इससे कहें ॥१३.१६॥

अन्वयार्थ : संसार में लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं अथवा जिस किसी पदार्थ को लोग अमृत बतलाते हैं, वह पदार्थ वास्तव में अमृत नहीं है । वास्तविक अमृत तो विशुद्धि ही है; क्योंकि लोक-कथित अमृत के अधिक सेवन करने से तो कष्ट भोगना पड़ता है और विशुद्धिरूपी अमृत के अधिक सेवन करने से परम सुख ही मिलता है; किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं भोगता पड़ता; इसलिए जिससे सब अवस्थाओं में सुख मिले, वही अमृत सच्चा है ।

विशुद्धि-सेवन में रत के निवास-स्थान

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं खसुखानि धनानि च ॥17॥
सब छोड़ अनुपम राज्य धन, इन्द्रिय विषय सुख नित रहें ।
गिरि गुफा आदि में सदा, सुविशुद्धि सेवनासक्त हैं ॥१३.१७॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, विशुद्धता के भक्त हैं, अपने आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं; वे उसकी सिद्धि के लिए पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं तथा अनुपम राज्य, इन्द्रिय-सुख और सम्पत्ति का सर्वथा त्याग कर देते हैं । राज्य आदि की ओर जरा भी चित्त को भटकने नहीं देते ।

विशुद्धि और चित्स्वरूप में स्थिति का संबंध

विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात् स्थितिस्तस्या विशुद्धता ।
तयोरन्योन्यहेतुत्वमनुभूय प्रतीयतां ॥18॥
हो विशुद्धि से स्थिति चिद्रूप में उससे बड़े ।
नित विशुद्धि यों परस्पर, हेतुत्व जान उन्हें करें ॥१३.१८॥

अन्वयार्थ : विशुद्धि होने से शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति होती है और विशुद्ध-चिद्रूप में निश्चलरूप से स्थिति करने से विशुद्धि होती है, इसलिए इन दोनों को आपस में एक-दूसरे का कारण जानकर इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिए ।

विशुद्धि को प्रगट करने की प्रेरणा

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।

परमाचरण सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥19॥
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥20॥
है विशुद्धि उत्तम धरम, वह ही सुखाकर जीव को ।
है वही उत्तम आचरण, है मोक्षमार्ग वही सुनो ॥१३.१९॥
इससे सदा ही यत्न पूर्वक, मनीषी मुनिवरों को ।
'मैं शुद्ध चिद्रूप' चिन्तवन से, प्रतिक्षण कर्तव्य हो ॥१३.२०॥
अन्वयार्थ : यह विशुद्धि ही संसार में परम धर्म है, यही जीवों को सुख का देनेवाला, उत्तम चारित्र और मोक्ष का मार्ग है; इसलिए जो मुनिगण विद्वान हैं, जड़ और चेतन के स्वरूप के वास्तविक जानकार हैं; उन्हें चाहिए कि वे शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से प्रयत्न पूर्वक विशुद्धि की प्राप्ति करें ।

विशुद्धता पाने की पात्रता

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥21॥
जब तक मुनीश्वर बाह्य अन्त:, परिग्रह नहिं छोड़ते ।
तब तक नहीं आती विशुद्धि, उन्हीं के चिद्रूप में ॥३१.२१॥
अन्वयार्थ : जब तक मुनि-गण बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का नाश नहीं कर देते; तब तक उनके चिद्रूप में विशुद्धपना नहीं आ सकता ।

विशुद्धि का आश्रय लेने की प्रेरणा

विशुद्धिनावमेवात्र श्रयंतु भवसागरे ।
मज्जंतो निखिला भव्या बहुना भाषितेन किं ॥22॥
इस भवोदधि में डूबते, सब भव्य आश्रय लो इसी ।
सुविशुद्धि रूपी नाव का, बहु कथन से क्या? एक ही ॥१३.२२॥
अन्वयार्थ : ग्रन्थकार कहते हैं कि इस विषय में विशेष कहने से क्या प्रयोजन? प्रिय भव्यों! अनादि काल से आप लोग इस संसाररूपी सागर में गोता खा रहे हैं, अब आप इस विशुद्धिरूपी नौका का आश्रय लेकर संसार से पार होने के लिए पूर्ण उद्यम कीजिए ।
आदेशोऽयं सद्गुरूणां रहस्यं सिद्धांतानामेतदेवाखिलानां ।
कर्तव्यानां मुख्यकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः ॥23॥
सद् गुरु का आदेश यह, सब शास्त्र का है सार ही ।
कर्तव्य में कर्तव्य पहला, करो निज चित् विशुद्धि ॥१३.२३॥
अन्वयार्थ : अपने चित्स्वरूप में विशुद्धि प्राप्त करना - यही उत्तम गुरुओं का उपदेश है, समस्त सिद्धान्तों का रहस्य और समस्त कर्तव्यों में मुख्य कर्तव्य है ।

बुद्धिमानों की परिणति

नीहाराहारपानं खमदनविजयं स्वापमौनासनं च
यानं शीलं तपांसि व्रतमपि कलयन्नागमं संयमं च ।
दानं गानं जिनानां नुतिनतिजपनं मंदिरं चाभिषेकं
यात्रार्चे मूर्तिमेवं कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहं ॥1॥

नीहार भोजन पान इंद्रिय, कामजय निद्रा गमन ।
प्रणाम आसन मौन आगम, शील तप व्रत संयम ॥
अभिषेक जिन स्तुति पूजन, दान गान सु जाप जिन ।
मूर्ति जिनालय तीर्थ यात्रा आदि में भाओ सुचित् ॥१४.१॥

अन्वयार्थ : बुद्धिमान पुरुष नीहार (मल-मूत्र त्याग करना), खाना, पीना, इंद्रिय और काम का विजय, सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान, जिनेन्द्र भगवान की स्तुति, प्रणाम, जप, मन्दिर, अभिषेक, तीर्थ-यात्रा, पूजन और प्रतिमाओं के निर्माण आदि करते 'मैं शुद्ध-चिद्रूप स्वरूप हूँ' ऐसा भाते हैं ।

आत्माराधक को ही मोक्ष प्राप्ति

कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं खजयजपतपोऽध्यापनं साधुसेवां
दानौघान्योपकारं यमनियमधरं स्वापशीलं दधानः ।
उद्भीभावं च मौनं व्रतसमितितितिं पालयन् संयमौघं
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापरः स्वर्गभाक् च ॥2॥
करते यजन यात्रादि इंद्रिय-विजय जप तप अरु पठन ।
पाठन गुरु सेवा नियम यम, शील संयम मौन व्रत ॥
समिति विविध उपकार निर्भय, दान आदि सभी में ।
चिद्रूप ध्यानी मोक्षगामी, अन्य जाएं स्वर्ग में ॥१४.२॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य तीर्थ-यात्रा, भगवान की पूजन, इंद्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन (पढ़ाना), साधुओं की सेवा, दान, अन्य का उपकार, यम, नियम, शील, भय का अभाव, मौन, व्रत और समिति का पालन एवं संयम का आचरण करता हुआ शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में रत है, उसे तो मोक्ष की प्राप्ति होती है और उससे अन्य अर्थात् जो शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान न कर तीर्थ-यात्रा आदि को ही करनेवाला है, उसे नियम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

सोदाहरण स्वरूप-स्थिरता-हेतु प्रेरणा

चित्तं निधाय चिद्रूपे कुर्याद् वागंगचेष्टितं ।
सुधीर्निरंतरं कुंभे यथा पानीयहारिणी ॥3॥
पनिहारिणी घटवत् करें, तन वचन चेष्टा चित्त को ।
कर लीन शुद्ध चिद्रूप में, नित विज्ञ चाहो मोक्ष को ॥१४.३॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य विद्वान हैं, संसार के संताप से रहित होना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे घड़े में पनिहारी के समान शुद्ध-चिद्रूप में अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करें ।

स्वरूप-स्थिरता का फल

वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य संगं हित्वा द्विधा ततः ।
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य ततः स्वीकृत्य संयमं ॥4॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि निर्जने निरुपद्रवे ।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचिंतां धृत्वा शुभासनं ॥5॥
पदस्थादिकमभ्यस्य कृत्वा साम्यावलंबनं ।
मानसं निश्चलीकृत्य स्वं चिद्रूपं स्मरंति ये ॥6॥
पापानि प्रलयं यांति तेषामभ्युदयप्रदः ।

धर्मो विवर्द्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते ॥7॥
वैराग्य पा मन वचन तन से, छोड़ दोनों परिग्रह ।
तत्त्वज्ञ सद्गुरु शरण ले, अब संयमादि कर ग्रहण ॥१४.४॥
सब शास्त्र पढ़ निर्विघ्न, निर्जन थल निवास करे सदा ।
सब अन्य चिन्ता छोड़, शुभ आसन लगा पदस्थादि का ॥
अभ्यास कर ले साम्य आलम्बन करे चित निश्चली ।
निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण ध्यानादि करते हैं यही ॥१४.५-६॥
सब पाप उनके नष्ट, नित कल्याण प्रद सद्धर्म की ।
वृद्धि सदा नित धर्म होता, मोक्षदायी भी यही ॥१४.७॥
अन्वयार्थ : जो महानुभाव मन से, वचन से और काय से वैराग्य को प्राप्त होकर, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर, तत्त्ववेत्ता गुरु का आश्रय और संयम को स्वीकार कर, समस्त शास्त्रों के अध्ययन पूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थान में रहते हैं और वहाँ समस्त प्रकार की चिन्ताओं का त्याग, शुभ आसन का धारण; पदस्थ, पिण्डस्थ आदि ध्यानों का अवलम्बन, समता का आश्रय और मन का निश्चलपना धारण कर शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान करते हैं, उनके समस्त पाप जड़ से नष्ट हो जाते हैं, नाना प्रकार के कल्याणों को करनेवाले धर्म की वृद्धि होती है और उससे उन्हें मोक्ष मिलता है ।

चिद्रूप के चिन्तन से सभी पाप नष्ट

वार्वाताग्न्यमृतोषवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा
सूर्येण प्रियभाषितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयं ।
अग्न्यब्दागविषं मलागफ णिनोऽज्ञानं गदेभव्रजाः
रात्रिवैरैमिहावनावघचयश्चिद्रूपसंचिंतया ॥8॥
ज्यों जल अनल का अनिल घन का, आग तरु का सुधा विष ।
का क्षार मैल का बज्र गिरि का, गरुड़ अहि का रवी निश ॥
का सिंह गज का रोग का औषध मधुर भाषण करे ।
सब बैर का अज्ञान का नित ज्ञान क्षण में क्षय करे ॥
इत्यादि बहुविध वस्तुएं, बलवान हो ज्यों क्षय करें ।
त्यों शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि, सकल अघ का क्षय करें ॥१४.८॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार जल अग्नि का क्षय करता है, पवन मेघ का, अग्नि वृक्ष का, अमृत विष का, खार मैल का, बज्र पर्वत का, गरुड़ सर्प का, ज्ञान अज्ञान का, औषध रोग का, सिंह हाथियों का, सूर्य रात्रि का और प्रिय भाषण बैर का नाश करता है; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से समस्त पापों का नाश होता है ।

चिद्रूप-ध्यान का फल

वर्द्धंते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः ।
तथा चिद्रूपसद्धयानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः ॥9॥
ज्यों लगे तरुवर मेघ वर्षा से बड़ें त्यों धर्म भी ।
चिद्रूप के सद्ध्यान से, नित बड़े हितकारक सभी ॥१४.९॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार पहले से उगे हुए वृक्ष, मेघ के जल से वृद्धि को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से धर्म भी वृद्धि को प्राप्त होता है और नाना प्रकार के कल्याणों को प्रदान करता है ।
यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।

तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥10॥
ज्यों मेघ वर्षा से उगें, नित हरे अंकुर त्यों सदा ।
मैं शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि से धरम हो मुक्तिदा ॥१४.१०॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मेघ से भूमि के अन्दर हरे-हरे अंकुर उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से मुक्ति प्रदान करनेवाला धर्म भी उत्पन्न होता है; अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से अनुपम धर्म की प्राप्ति होती है और उसकी सहायता से जीव मोक्षसुख का अनुभव करते हैं ।

मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमंतर्बहिः संगमोचनं ।
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिश्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥11॥
व्रत पठन तप निर्जन निवासी, सब परिग्रह छोड़ता ।
आतापनादि योग धारे, क्षमा मौनादि सदा ॥
मैं शुद्ध चिद्रूप चिन्तनादि से सुध्याता आत्म का ।
चिन्मय सुथिर निष्काम वह, नित मोक्ष वैभव ले सदा ॥१४.११॥
अन्वयार्थ : जो विद्वान पुरुष शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन के साथ व्रतों का आचरण करता है; शास्त्रों का स्वाध्याय, तप का आराधन, निर्जन वन में निवास, बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग; मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है, उसे ही मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।

शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग का लाभ

शुद्धचिद्रूपके रक्तः शरीरादिपराङ्मुखः ।
राज्यं कुर्वन्न बंधेत कर्मणा भरतो यथा ॥12॥
निज शुद्ध चिद्रूपी निरत, तन आदि में ममता-रहित ।
वह राज्य करते भी नहीं बाँधें करम ज्यों थे भरत ॥१४.१२॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष शरीर, स्त्री, पुत्र आदि से ममत्व छोड़कर शुद्ध-चिद्रूप में अनुराग करनेवाला है, वह राज्य करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता; जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत ।
स्मरन् स्वशुद्धचिद्रूपं कुर्यात्कार्यशतान्यपि ।
तथापि न हि बध्यते धीमानशुभक र्मणा ॥13॥
निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण, करता अनेकों कार्य भी ।
पर नहीं बँधता अशुभ कर्मों से विरक्त सदा सुधी ॥१४.१३॥
अन्वयार्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुष यदि सैकडों भी अन्य कार्य करे; तथापि उसके आत्मा के साथ किसी प्रकार के अशुभ-कर्म का बन्ध नहीं होता ।

इसका ही पुन: फल

रोगेण पीडितो देही यष्टिमुष्ट्यादिताडितः ।
बद्धो रज्वादिभिर्दुःखी न चिद्रूपं निजं स्मरन् ॥14॥
हो रोग पीड़ित लकड़ी मुट्ठी आदि से ताड़ित वदन ।
हो बँधा रस्सी आदि से, पर दुखी नहिं चिद् स्मरण ॥१४.१४॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य स्व-शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण करनेवाला है, चाहे वह कैसे भी रोग से पीड़ित क्यों न हो; लाठी, मुक्कों से ताड़ित और रस्सी आदि से भी बँधा हुआ क्यों न हो; उसे जरा भी क्लेश नहीं होता; अर्थात् वह यह जानकर कि ये सारी व्याधियाँ शरीर में होती हैं, मेरे

शुद्ध-चिद्रूप में नहीं और शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न है - रंच-मात्र भी दु:ख का अनुभव नहीं करता ।

बुभुक्षया च शीतेन वातेन च पिपासया ।
आतपेन भवेन्नार्तो निजचिद्रूपचिंतनात् ॥15॥
बहु भूख प्यास पवन बहुत गर्मी सुशीतादि नहीं ।
दे सकें दुख चिद्रूप निज के चिन्तनादि से सुखी ॥१४.१५॥

अन्वयार्थ : आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप के चिन्तन से मनुष्य को भूख, ठण्ड, पवन, प्यास और आताप की भी बाधा नहीं होती । (भूख आदि की बाधा होने पर भी वह आनन्द ही मानता है) ।

हर्षो न जायते स्तुत्या विषादो न स्वनिंदया ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोंऽगिनः ॥16॥
निज स्तुति से हर्ष नहीं, विषाद निन्दा से नहीं ।
निज शुद्ध चिद्रूप स्मरण, करता रहे माध्यस्थ्य ही ॥१४.१६॥

अन्वयार्थ : जो प्रतिदिन स्वकीय शुद्ध-चिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है, उसे दूसरे मनुष्यों से अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहीं होता और निन्दा सुनकर किसी प्रकार का विषाद नहीं होता; निन्दा, स्तुति - दोनों दशा में वह मध्यस्थरूप से रहता है ।

रागद्वेषो न जायेते परद्रव्ये गतागते ।
शुभाशुभेंऽगिनः शुद्धचिद्रूपासक्तचेतसः ॥17॥
पर द्रव्य मिलने बिछुड़ने, शुभ अशुभ में नहिं हों कभी ।
राग द्वेष निज चिद्रूप-रत, आतम सुथिर मध्यस्थ ही ॥१४.१७॥

अन्वयार्थ : जिस मनुष्य का चित्त शुद्ध-चिद्रूप में आसक्त है; वह स्त्री, पुत्र आदि परद्रव्य के चले जाने पर द्वेष नहीं करता और उनकी प्राप्ति में अनुरक्त नहीं होता तथा अच्छी-बुरी बातों के प्राप्त हो जाने पर भी उसे किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं होता ।

न संपदि प्रमोदः स्यात् शोको नापदि धीमतां ।
अहो स्वित्सर्वदात्मीयशुद्धचिद्रूपचेतसां ॥18॥
नहिं सम्पदा में हर्ष, शोक नहीं विपत्ती में कभी ।
निज शुद्ध चिद्रूप में मगन मन, सुधी को नित साम्य ही ॥१४.१८॥

अन्वयार्थ : सदा निज शुद्ध-चिद्रूप में मन लगानेवाले बुद्धिमान को संपत्ति के प्राप्त हो जाने पर हर्ष और विपत्ति के आने पर विषाद नहीं होता है । वे सम्पत्ति और विपत्ति को समानरूप से मानते हैं ।

अप्रतिहत भाव से आत्माराधना की प्रेरणा

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न मुंचंति सर्वदा ।
गच्छंतोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि ॥19॥
तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न ॥20॥
निज शुद्ध चिद्रूप को नहीं, जो छोड़ते हैं कभी भी ।
वे अन्य भव जाएं तथापि, दृढ़ाभ्यास तजें नहीं ॥१४.१९॥
यों जान शुद्ध चिद्रूप, चिन्तन का सदा अभ्यास कर ।
जिससे भयंकर दु:ख या मरणादि में भी सुरक्षित ॥१४.२०॥

अन्वयार्थ : जो महानुभाव आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप का कभी त्याग नहीं करते; वे यदि अन्य भव में भी चले जाएँ तो भी उनके शुद्ध-चिद्रूप का अभ्यास नहीं छूटता । पहले भव में जैसी उनकी शुद्धरूप में लीनता रहती है, वैसी ही बनी रहती है; इसलिए हे आत्मन! तुशुद्ध-चिद्रूप के ध्यान का इस रूप से सदा अभ्यास करो; जिससे कि भयंकर दु:ख और मरण के प्राप्त हो जाने पर भी उसका विनाश न हो; वह ज्यों

का त्यों बना रहे ।

ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति

वदन्नन्यैर्हसन् गच्छन् पाठयन्नागमं पठन् ।
आसनं शयनं कुर्वन् शोचनं रोदनं भयं ॥21॥
भोजनं क्रोधलोभादि कुर्वन् कर्मवशात् सुधीः ।
न मुंचति क्षणार्द्धं स शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥22॥
वे बोलते हँसते जिनागम, पढ़ाते पढ़ते हुए ।
चलते शयन करते ठहरते, शोक रोदन भय करें ॥१४.२१॥
भोजन कषायादि कर्म-वश करें शुद्ध चिद्रूप का ।
चिन्तन नहीं छोड़ें कभी, वे सुधी ध्याते निज सदा ॥१४.१२॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष बुद्धिमान हैं, यथार्थ में शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप के जानकार हैं; वे कर्मों के फन्द में फँसकर बोलते, हँसते, चलते, आगम को पढ़ाते, पढ़ते, बैठते, सोते, शोक करते, रोते, डरते, खाते, पीते और क्रोध, लोभ आदि को भी करते हुए क्षण भर के लिए भी शुद्ध-चिद्रूप के स्वरूप से विचलित नहीं होते; वे प्रति-क्षण शुद्ध-चिद्रूप का ही चिन्तन करते रहते हैं ।

आत्माराधना-हेतु त्याग की प्रेरणा

गृहं राज्यं मित्रं जनकअननीं भ्रातृपुत्रं कलत्रं
सुवर्णं रत्नं वा पुरजनपदं वाहनं भूषणं वै ।
खसौख्यं क्रोधाद्यं वसनमशनं चित्तवाक्कायकर्म-
त्रिधा मुंचेत् प्राज्ञः शुभमपि निजं शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै ॥1॥
घर राज्य मित्र स्वर्ण माता, पिता सुत भ्राता तिया ।
भूषण नगर जनपद सवारी, वस्त्र भोजन रत्न या ॥
इंद्रियज सुख क्रोधादि तन, मन वचन तीनों कर्म भी ।
अनुकूल भी तजते सुधी, पाने स्वयं चिद्रूप ही ॥१५.१॥

अन्वयार्थ : बुद्धिमान मनुष्यों को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति करने के लिए शुभ होने पर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण, इंद्रिय-जन्य सुख, क्रोध, वस्त्र और भोजन आदि को मन, वचन और काय से सर्वथा त्याग देना चाहिए ।

मोह का फल

सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तक धने
पुरादौ मंत्रादौ यशसि पठने राज्यकदने ।
गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये
कुधर्मे वांछा स्यात् सुरतरुमुखे मोहवशतः ॥2॥
हो मोह-वश से सुत सुता, माता तिया तन घर नगर ।
हैं ग्राम पुस्तक मन्त्र यश, गज सवारी इंद्रिय विषय ॥
भोजन पठन गो मित्र स्वर्ग, कुधर्म सुरतरु राज्य में ।
युद्धादि में वांछा सदा, निज भूल दोषी लोक में ॥१५.२॥

अन्वयार्थ : इस दीन जीव की मोह के वश से पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मंत्र, कीर्ति, ग्रन्थों का अभ्यास,

राज्य, युद्ध, गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इंद्रियों के विषय, कुधर्म और कल्पवृक्ष आदि में वांछा होती है ।

आत्म-हित-हेतु स्वयं को संबोधन

किं पर्यायैविभावैस्तव हि चिदचित्तां व्यंजनार्थाभिधानैः
रागद्वेषाप्तिबीजैर्जगति परिचितैः कारणैः संसृतेश्च ।
मत्वैवं त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मंक्षु तेषां
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचलतयांतर्दृशा संविधेहि ॥3॥
चेतन अचेतन सभी व्यंजन, **अर्थ** पर्यायें कहीं ।
विकृतमई राग द्वेष हेतु, सुचिर परिचित हैं सभी ॥
संसार हेतु मान तज, अति शीघ्र चिन्तन आदि भी ।
चिद्रूप अपने द्रव्य में, अन्तर्दृशी रह अचल ही ॥१५.३॥
अन्वयार्थ : हे चिदात्मन्! संसार में चेतन और अचेतन की जो अर्थ और व्यंजन पर्याय मालूम पड़ रही हैं, वे सब स्वभाव नहीं हैं; विभाव हैं, निन्दित हैं, राग-द्वेष आदि की और संसार की कारण हैं - ऐसा भले प्रकार निश्चय कर तु इनका विचार करना छोड़ दो और आत्मिक शुद्ध-चिद्रूप को अपनी अन्तर्दृष्टि से भले प्रकार पहिचान कर उसी में निश्चलरूप से स्थिति करो ।

तीव्र मोह का फल

स्वर्णैरत्नैर्गृहैः स्त्रीसुतरथशिविकाश्वेभमृत्यैरसंख्यै –
र्भूषावस्त्रैः स्रगाद्येर्जनपदनगरैश्चाभरैः सिंहपीठैः ।
छत्रैरस्त्रैर्विचित्रैर्वरतरशयनैर्माजनैर्भोजनैश्च
लब्धैः पांडित्यमुख्यैर्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात् ॥4॥
पाण्डित्य भोजन स्वर्ण रत्न, नगर चँवर सिंहासन ।
घर सुत तिया रथ पालकी, हय भृत्य भूषण छत्र शयन ॥
सब गाय माला वस्त्र अस्त्र, सुदेश आदि से सतत ।
व्याकुल है तीव्र मोह से, फिर भी फसे इनमें सतत ॥१५.४॥
अन्वयार्थ : यह पुरुष मोह की तीव्रता से आकुलता के कारण-स्वरूप भी स्वर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन, विद्वत्ता आदि से व्याकुल नहीं होता ।

अज्ञानी की विपरीत मान्यता

रैगोभार्याः सुताश्वा गृहवसनरथाः क्षेत्रदासीभशिष्याः
कर्पूराभूषणाद्यापणवनशिबिका बंधुमित्रायुधाद्याः ।
मंचा वाप्यादि भृत्यातपहरणखगाः सूर्यपात्रासनाद्याः
दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमतिः सौख्यहेतून् किलैतान् ॥5॥
धन गाय स्त्री सुता घोड़ा, घर कपूर दुकान वन ।
गज वस्त्र रथ खेत शिष्य भाजन, पलंग भूषण बन्धु खग ॥
नित छत्र बावड़ी भृत्य रवि, शस्त्रादि आसन पालकी ।
दासी इत्यादि दु:ख हेतु, हेतु सुख अज्ञ भा यही ॥१५.५॥
अन्वयार्थ : देखो! इस बुद्धि-शून्य जीव की समझदारी! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री, अश्व, घर, वस्त्र, रथ, क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, कपूर, आभूषण, दुकान, वन, पालकी, बन्धु, मित्र, आयुध, मांच (पलंग) बावड़ी, भृत्य, छत्र, पक्षी, सूर्य, भाजन, आसन आदि पदार्थ दु:ख के

कारण हैं; जिन्हें अपनाने से जरा भी सुख नहीं मिलता है; उन्हें यह सुख के कारण मानता है । अपने मान रात-दिन उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता रहता है ।

हितकारी मार्ग-दर्शन

हंस ! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा ।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा ॥6॥
हे आत्मन! ज्यों प्रति समय, पर द्रव्य याद करे सभी ।
त्यों करे शुद्ध चिद्रूप चिन्तन, ध्यान तो फिर मुक्ति ही ॥१५.६॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन्! जिस प्रकार प्रतिदिन तु पर-द्रव्यों का स्मरण करते हो; स्त्री, पुत्र आदि को अपना मान उन्हीं की चिन्ता में मग्न रहते हो; उसी प्रकार यदि तु शुद्ध-चिद्रूप का भी स्मरण करो, उसी के ध्यान और चिन्तन में अपना समय व्यतीत करो तो क्या तुम्हारे लिए मोक्ष समीप न हो जाए? अर्थात् तु बहुत शीघ्र ही मोक्ष-सुख का अनुभव करने लग जाओगे ।
लोकस्य चात्मनो यत्नं रंजनाय करोति यत् ।
तच्चेन्निराकुलत्वाय तर्हि दूरे न तत्पदं ॥7॥
ज्यों स्वयं पर के मनोरंजन, हेतु यत्न करें सदा ।
त्यों निराकुलता हेतु, यत्न करो तो सौख्य मिले सदा ॥१५.७॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार यह जीव अपने और लोक को रंजायमान करने के लिए प्रतिदिन उपाय करता रहता है; उसी प्रकार यदि निराकुलतामय मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए उपाय करे तो वह मोक्ष-स्थान उसके लिए जरा भी दूर न रहे; बहुत जल्दी प्राप्त हो जाए ।

सहेतुक स्पष्टीकरण

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं बिना नास्ति सत्सुखं ॥8॥
नित मनोरंजन भाव विकृत, भाव दुखमय जानना ।
निज निराकुल चिद्रूप भाव, सुखद उसी से सुख सदा ॥१५.८॥
अन्वयार्थ : अपने और पर को रंजायमान करनेवाले चिदात्मा में जो जीव का परिणाम लगता है, वह तो विभाव-परिणाम ही है और निराकुल शुद्ध-चिद्रूप में जो लगता है, वह स्वभाव-परिणाम है तथा इस परिणाम से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है; उसके बिना कदापि सच्चा सुख नहीं मिल सकता ।

संसार मात्र का त्याग करने की प्रेरणा

संयोगविप्रयोगौ च रागद्वेषौ सुखामुखे ।
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं दृश्येते तद्भवं त्यज ॥9॥
नित यहाँ पर भव में भी दिखते, राग द्वेष मिलन गलन ।
सुख दु:ख आदि सदा ही, यों मान भव तज भज स्वयं ॥१५.९॥
अन्वयार्थ : क्या तो यह-भव और क्या पर-भव? दोनों भवों में जीव को संयोग, वियोग, राग-द्वेष और सुख-दु:ख का सामना करना पड़ता है; इसलिए हे आत्मन्! तुम इस संसार का त्याग कर दो ।
शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥10॥
नित शास्त्र गुरु साधर्मि आदि से निजातम ज्ञान कर ।
फिर अन्य संगति छोड़, इसका आश्रय ले मग्न रह ॥१५.१०॥

अन्वयार्थ : सहेतुक शोक-त्याग की प्रेरणा

सहेतुक शोक-त्याग की प्रेरणा

अवश्यं च परद्रव्यं नश्यत्येव न संशयः ।

तद्विनाशे विधातव्यो न शोको धीमता क्वचित् ॥11॥

पर द्रव्य योग मिटे नियम से, यहाँ संशय है नहीं ।

उस नाश में नहिं शोक करते, साम्य रखते नित सुधी ॥१५.११॥

अन्वयार्थ : जो पर-द्रव्य हैं, उनका नाश अवश्य होता है । कोई भी उनके नाश को नहीं रोक सकता; इसलिए जो पुरुष बुद्धिमान हैं; स्व-द्रव्य और पर-द्रव्य के स्वरूप के भले प्रकार जानकार हैं; उन्हें चाहिए कि वे उनके नष्ट होने पर कभी किसी प्रकार का शोक न करें ।

राग की व्यर्थता

त्यक्त्वा मां चिदचित्संगा यास्यंत्येव न संशयः ।

तानहं वा च यास्मामि तत्प्रीतिरिति मे वृथा ॥12॥

चेतन अचेतन सब परिग्रह, मुझे छोड़ें नियम से ।

या मैं इन्हें तज चला जाऊँ, व्यर्थ इनसे प्रीति है ॥१५.१२॥

अन्वयार्थ : ये चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह अवश्य मुझे छोड़ देंगे और मैं भी सदा काल इनका संग नहीं दे सकता; मुझे भी ये अवश्य छोड़ देने पड़ेंगे; इसलिए मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है ।

तत्त्वावलम्बी की प्रवृत्ति

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत् ।

तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलंबिनः ॥13॥

परद्रव्य का जो ज्ञान शास्त्रों से मुझे है हेय वह ।

निज तत्त्व अवलम्बी को पर सब हेय जानो ही नियत ॥१५.१३॥

अन्वयार्थ : मैं अब तत्त्वावलम्बी हो गया हूँ; अपने और पराए का मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है; इसलिए शास्त्रों से उत्पन्न हुआ पर-द्रव्यों का ज्ञान भी जब मेरे लिए हेय/त्यागने-योग्य है; तब उन पर-द्रव्यों के ग्रहण का त्याग तो अवश्य ही होना चाहिए; उनकी ओर झाँककर भी मुझे नहीं देखना चाहिए ।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति बिना कृतकृत्यता नहीं

स्वर्णैरत्नैः कलत्रैः सुतगृहवसनैर्भूषणैं राज्यखार्थे —

र्गोहस्त्यश्वैश्च पद्गैः स्थवरशिविकामित्रमिष्टान्नपानैः ।

चिंतारत्नैर्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-

चिद्रूपाप्तिं विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदा क्वापि काऽपि ॥14॥

सुत घर वसन भूषण तिया, गो गज सुवर्ण राज हय ।

सेना पदाति पालकी रथ, रत्न मित्र ख-विषय ॥

उत्कृष्ट भोग मिष्ठान्न भोजन, पान चिन्तामणि रतन ।

सुरतरु सुरधेनु विविध, निधिआँ सु वस्तु अनगिनत ॥

इत्यादि बहु-विध भोग्य कोई, कहिं कभी नहिं तृप्ति-कर ।

निज शुद्ध चिद्रूप प्राप्ति से, होते सभी नित कृत्य-कृत ॥१५.१४॥

अन्वयार्थ : कोई भी प्राणी क्यों न हो जब तक उसे शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती; तब तक चाहे उसके पास स्वर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर,

वस्त्र, भूषण, राज्य, इंद्रियों के उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदाति-सेना, रथ, पालकी, मित्र, महा-मिष्ट अन्नपान, चिन्तामणि रत्न, खजाने, कल्प-वृक्ष, काम-धेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों; उनसे वह कहीं, किसी काल में भी कृत-कृत्य नहीं हो सकता ।

मोक्ष-प्राप्ति का उपाय

परद्रव्यासनाभ्यासं कुर्वन् योगी निरंतरं ।
कर्मांगादिपरद्रव्यं मुक्त्वा क्षिप्रं शिवी भवेत् ॥15॥
पर द्रव्य तजने का सतत, अभ्यास करता योगि ही ।
तन कर्म सब पर द्रव्य तज, शिव सौख्य पाता शीघ्र ही ॥१५.१५॥

अन्वयार्थ : निरन्तर पर-द्रव्यों के त्याग का चिन्तन करनेवाला योगी शीघ्र ही कर्म और शरीर आदि पर-द्रव्यों से रहित हो जाता है और परमात्मा बन मोक्ष-सुख का अनुभव करने लगता है ।

बंध और मोक्ष के कारण

कारणं कर्मबन्धस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥16॥
पर द्रव्य चिन्तन से बँधें, नित कर्म निज चिद्रूप के ।
नित ध्यान से है मोक्ष, सब ही छूट जाते दु:ख से ॥१५.१६॥

अन्वयार्थ : स्त्री, पुत्र आदि पर-द्रव्यों के चिन्तन से केवल कर्म-बन्ध होता है और स्व-द्रव्य, विशुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करने से केवल मोक्ष-सुख ही प्राप्त होता है; संसार में भटकना नहीं पड़ता ।

प्रादुर्भवंति निःशेषा गुणाः स्वाभाविकाश्चितः ।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात् ॥17॥
प्रादुर्भवंति निःशेषा गुणाः स्वाभाविकाश्चितः ।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात् ॥१७॥

अन्वयार्थ : समस्त पर-द्रव्यों के त्याग से, उन्हें न अपनाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण-केवलज्ञान आदि प्रगट होते हैं और दोषों का नाश होता है ।

मुक्ति

समस्तकर्मदेहादिपरद्रव्यविमोचनात् ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या सा मुक्तिरिति कथ्यते ॥18॥
तन कर्म सब पर-द्रव्य, तजने से निजातम प्राप्ति ।
परिपूर्ण शुद्ध दशामई, कहते उसे हैं मुक्ति ही ॥१५.१८॥

अन्वयार्थ : कर्म और शरीर आदि पर-द्रव्यों के सर्वथा त्याग से शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति होती है और उसे ही यति-गण मोक्ष कहकर पुकारते हैं ।

पर-द्रव्य के त्याग की प्रेरणा

अतः स्वशुद्धचिद्रूपलब्धये तत्त्वविन्मुनिः ।
वपुषा मनसा वाचा परद्रव्यं परित्यजेत् ॥19॥
यों अत: निज शुद्धात्म चिन्मय, प्राप्ति-हेतु तत्त्व-विद ।
मुनि मन वचन तन सभी पर-द्रव्य छोड़ ध्याते स्वयं नित ॥१५.१९॥

अन्वयार्थ : इसलिए जो मुनिगण भले प्रकार तत्त्वों के जानकार हैं, स्व और पर का भेद पूर्णरूप से जानते हैं; वे विशुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति

के लिए मन, वचन और काय से पर-द्रव्य का सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनमें जरा भी ममत्व नहीं करते ।

मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता

दिक्चेलैको हस्तपात्रो निरीहः
साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी ।
मौनी कर्मौधेभसिंहो विवेकी
सिद्ध्यै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽभिरक्तः ॥20॥
जो हैं दिगम्बर, हस्तपात्राहारि निर्वांछक सदा ।
मौनी तपस्वी साम्यमय, कर्मौघ-गज को सिंह सदा ॥
वे विवेकी नित शुद्ध चिद्रूप लीन अपने में निरत ।
पाते सदा सिद्धि वही, ईश्वर सु स्वस्थमई सतत ॥१५.२०॥
अन्वयार्थ : जो मुनि दिगम्बर, पाणि-पात्रवाले, समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित, समता के अवलम्बी, तत्त्वों के वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियों का विदारण करने में सिंह, विवेकी और शुद्ध-चिद्रूप में लीन हैं; वे ही परमात्म-पद प्राप्त करते हैं; वे ही ईश्वर कहे जाते हैं; अन्य नहीं ।

निर्जन-स्थान किस-किस का साधन है

सद्बुद्धेः पररंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च
ग्रंथार्थग्रहणस्य मानसवचोरोधस्य बाधाहतेः ।
रागादित्यजनस्य काव्यजमतेश्चेतोविशुद्धेरपि
हेतु स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकं ॥1॥
सद्ज्ञान पर रंजन निराकुल, साम्य शास्त्रार्थ ग्रहण ।
मन वचन रोध सुनष्ट बाधा, राग द्वेषादि त्यजन ॥
हो काव्य में एकाग्र-धी, मन विशुद्धि स्वाधीन सुख ।
निज ध्यान आदि के लिए, सब कहें निर्जन योग्य थल ॥१६.१॥
अन्वयार्थ : उत्तम-ज्ञान, पर को रंजायमान करने में आकुलता का त्याग, समता, शास्त्रों के अर्थ का ग्रहण, मन और वचन का निरोध, बाधा-विघ्नों का नाश, राग-द्वेष आदि का त्याग, काव्यों में बुद्धि का लगना, मन की निर्मलता, आत्मिक सुख का लाभ और ध्यान, निर्जन एकान्त स्थान का आश्रय करने से ही होता है ।

शिवार्थी के लिए जन-सम्पर्क व्यर्थ

पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति केनचिन्मे प्रयोजनं ।
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्त्तिना ता शिवार्थिनः ॥2॥
अति निकटवर्ती मित्र शत्रु, मध्यगत से नहिं मुझे ।
कुछ प्रयोजन मैं मोक्ष इच्छुक, नहिं सहायक ये मुझे ॥१६.२॥
अन्वयार्थ : मैं शिवार्थी हूँ, अपने आत्मा को निराकुलतामय सुख का आस्वाद कराना चाहता हूँ; इसलिए मुझे शत्रु, मित्र और मध्यस्थ - किसी भी पास में रहनेवाले जीव से कोई प्रयोजन नहीं है; अर्थात् पास में रहनेवाले जीव, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ - सब मेरे कल्याण के बाधक हैं ।

जन-सम्पर्क आकुलता-वृद्धि का कारण

इंदोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतबलं वर्द्धते मेघवृष्टे-

र्मोहानां कर्मबंधो गद इव पुरुषस्याभुक्तेरवश्यं ।
नानावृत्ताक्षराणामवनिवरतले छंदसां प्रस्तरश्च
दुःखौघागो विकल्पास्त्रववचनकुलं पार्श्ववर्यगिनां हि ॥3॥
ज्यों चन्द्र से सागर सरित जल मेघ वर्षा से करम ।
बन्धन विकारों से, अपक्वाहार से रोगादि सब ॥
बहु विविध छन्दों अक्षरों से काव्य कोश सदा बड़ें ।
त्यों निकटवर्ती जनों से, बहु दुख वचन चिन्ता बड़ें ॥१६.३॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्बन्ध से समुद्र, वर्षा से नदी का जल, मोह के सम्बन्ध से कर्म-बन्ध, कच्चे भोजन से पुरुषों के रोग और नाना प्रकार के छन्द के अक्षरों से शोभित छन्दोंके सम्बन्ध से प्रस्तार वृद्धित होते हैं; उसी प्रकार पार्श्ववर्ती (नजदीकवर्ती) जीवों के सम्बन्ध से नाना प्रकार के दु:ख और विकल्पमय वचनों की वृद्धि होती है ।
वृद्धिं यात्येधसो वन्हिर्वृद्धौ धर्मस्य वा तृषा ।
चिन्ता संगस्य रोगस्य पीडा दुःखादि संगतेः ॥4॥
ज्यों अनल ईन्धन से तृषा बहु धूप से परिग्रहों से ।
चिन्ता बड़े पीड़ा बिमारी से दुखादि संग से ॥१६.४॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की, धूप से प्यास की, परिग्रह से चिन्ता की और रोग से पीड़ा की वृद्धि होती है; उसी प्रकार प्राणियों की संगति से पीड़ा और दु:ख आदि सहन करने पड़ते हैं ।

एकान्त-वास का औचित्य

विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजंबालजलधि –
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमताजालसदृशः ।
वरं स्थानं छेत्रीपविरविकरागस्ति जलदा –
गदज्वालाशस्त्रीसमर्मतिभिदे तस्य विजनं ॥5॥
विकल्प होते जीव में, बेड़ी गिरी कीचड़ उदधि ।
दावाग्नि आतप रोग हिम, बहु जाल सम अतएव ही ॥
छैनी पवी रवि अगस्त्य नक्षत्र मेघ सु औषधि ।
अग्नि छुरी सम नाश हेतु, विजन थल अति योग्य ही ॥१६.५॥
अन्वयार्थ : जीवों के विकल्प, बेड़ी, पर्वत, कीचड़, समुद्र, दावाग्नि का संताप, रोग, शीतलता और जाल के समान होते हैं; इसलिए उनके नाश के लिए छैनी, बज्र, सूर्य, अगस्त्य-नक्षत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरी के समान निर्जन स्थान का ही आश्रय करना उचित है ।

विविक्त शैय्यासन तप

तपसां बाह्य भूतानां विविक्तशयनासनं ।
महत्तपो गुणोद्भूतेरागत्यागस्य हेतुतः ॥6॥
सब बाह्य तप में है बड़ा, सु विविक्त शयनासन कहा ।
इससे गुणों की प्रगटता, रागादि सब मिटते सदा ॥१६.६॥
अन्वयार्थ : बाह्य तपों में विविक्त-शयनासन (एकान्त स्थान में सोना और बैठना) तप को महान तप बतलाया है; क्योंकि इसके आराधन से आत्मा में गुणों की प्रगटता होती है और मोह का नाश होता है ।

मूर्छा

काचिच्चिंता संगतिः केनचिच्च रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा ।
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां मूर्च्छा ज्ञेया ध्यानविध्वंसिनी च ॥7॥
हो किसी की चिन्ता किसी की संगति रोगादि से ।
पीड़ा अति निद्रा प्रगट हों कषायें क्रोधादि ये ॥
हैं ये सभी मोहातिवर्धक, मूर्छा जानों यही ।
यह ध्यान की विध्वंसिनी, इससे सदा बचते सुधी ॥१६.७॥
अन्वयार्थ : स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ता, प्राणियों के साथ संगति, रोग आदि से वेदना, तीव्र निद्रा और क्रोध, मान आदि कषायों की उत्पत्ति होना, मूर्च्छा है और इस मूर्च्छा से ध्यान का सर्वथा नाश होता है ।

मुक्ति-हेतु ध्यान के कारण

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च
तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां
मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥8॥
सब संग तज एकान्त थल, तत्त्वज्ञ सब चिन्ता रहित ।
निर्बाधता मन वचन तन वश, मुक्ति हेतु ध्यान नित ॥१६.८॥
अन्वयार्थ : बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग, एकान्त स्थान, तत्त्वों का ज्ञान, समस्त प्रकार की चिन्ताओं से रहितपना, किसी प्रकार की बाधा का न होना और मन, वचन तथा काय को वश करना - ये ध्यान के कारण हैं । इनका आश्रय करने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

विकल्पों को नष्ट करने का बाह्य उपाय

विकल्पपरिहाराय संगं मुंचंति धीधनाः ।
संगतिं च जनैः सार्द्धं कार्यं किंचित् स्मरंति न ॥9॥
सब विकल्पों से मुक्त होने, संग छोड़ें धीधनी ।
जन संगति कुछ कार्य आदि, नहीं सोचें निज रती ॥१६.९॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, स्व और पर के स्वरूप के जानकार होकर अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं; वे संसार के कारण-स्वरूप विकल्पों का नाश करने के लिए बाह्य-अभ्यन्तर - दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं; दूसरे मनुष्यों की संगति और किसी कार्य का चिन्तन भी नहीं करते हैं ।

विकल्पों की दु:खमयता

वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयंति यथांगिनः ।
विकल्पाश्च तथात्मानं तेषु सत्सु कथं सुखं ॥10॥
ज्यों एक साथ अनेक बिच्छु, तन सदा पीड़ित करें ।
त्यों विकल्पों से आतमा, है दुखी सुख नहिं स्वप्न में ॥१६.१०॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार शरीर पर एक साथ लगे हुए अनेक बिच्छु प्राणी को काटते और दु:खित बनाते हैं; उसी प्रकार अनेक प्रकार के विकल्प भी आत्मा को बुरी तरह दुखाते हैं; जरा भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देते; इसलिए उन विकल्पों की मौजूदगी में आत्मा को कैसे सुख हो सकता है? विकल्पों के जाल में फँसकर यह जीव रत्ती भर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता ।

सुखी होने का उपाय

बाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं ।
अंतः संगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥11॥
जब बाह्य संगति संग तजने से बहुत सुख है मुझे ।
तब भीतरी संग संगति तज दें तो उत्तम सुख मुझे ॥१६.११॥

अन्वयार्थ : जब मुझे बाह्य संगति के त्याग से ही परम सुख की प्राप्ति होती है, तब अन्तरंग संगति के त्याग से तो और भी अधिक सुख मिलेगा ।

अज्ञानी और ज्ञानी की मान्यता

बाह्यसंगतिसंगेन सुखं मन्यते मूढधीः ।
तत्त्यागेन सुधीः शुद्धचिद्रूपध्यानहेतुना ॥12॥
नित बाह्य संगति संग से, सुख मानते हैं अज्ञ ही ।
सब छोड़ शुद्ध चिद्रूप, निज का ध्यान सुख मानें सुधी ॥१६.१२॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष मुग्ध हैं, अपना-पराया जरा भी भेद नहीं जानते; वे बाह्य पदार्थों की संगति से अपने को सुखी मानते हैं; परन्तु जो बुद्धिमान हैं, तत्त्वों के भले प्रकार वेत्ता हैं, वे यह जानकर कि संगति का त्याग ही शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान में कारण है, उसके त्याग से ही शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान हो सकता है; बाह्य पदार्थों का सहवास न करने से ही अपने को सुखी मानते हैं ।

मुमुक्षु-हेतु कुछ मार्ग-दर्शन

अवमौदर्यात्साध्यं विविक्तशय्यासनाद्विशेषेण ।
अध्ययनं साध्यानं मुमुक्षुमुख्याः परं तपः कुर्युः ॥13॥
मोक्षार्थी नित करें, ऊनोदर, विविक्त शयनासनों ।
से साध्य अध्ययन ध्यान आदि आत्म साधक बहु तपों ॥१६.१३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष मुमुक्षुओं में मुख्य हैं; बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि वे अवमौदर्य और विविक्त-शैयासन की सहायता से निष्पन्न ध्यान के साथ अध्ययन, स्वाध्यायरूप परम तप का अवश्य आराधन करें ।

एकान्त स्थान में रहनेवाले आत्माराधकों का गुण-गान

ते वंद्याः गुणिनस्ते च ते धन्यास्ते विदांवराः ।
वसंति निर्जने स्थाने ये सदा शुद्धचिद्रताः ॥14॥
निज शुद्ध चिद्रूप में निरत, जो इसी हेतु एकान्त में ।
रहते गुणी वे धन्य, विद्वत् शिरोणि आत्मस्थ हैं ॥१६.१४॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य शुद्ध-चिद्रूप में अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्ति के लिए निर्जन स्थान में निवास करते हैं; संसार में वे ही वन्दनीक, सत्कार के योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानों के शिरोणि हैं; अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हीं का आदर-सत्कार करते हैं और उन्हें ही गुणी, धन्य और विद्वानों में उत्तम मानते हैं ।

ज्ञानियों की प्रवृत्ति

निर्जनं सुखदं स्थानं ध्यानाध्ययनसाधनं ।
रागद्वेषविमोहानां शातनं सेवते सुधीः ॥15॥
है राग द्वेष विमोह नाशक, ध्यान अध्ययन सहायक ।

निर्जन सुखद स्थान का, आश्रय करें नित सुधी जन ॥१६.१५॥

अन्वयार्थ : यह निर्जन स्थान अनेक प्रकार के सुख प्रदान करनेवाला है, ध्यान और अध्ययन का कारण है; राग, द्वेष और मोह का नाश करनेवाला है; इसलिए बुद्धिमान पुरुष अवश्य इसका आश्रय करते हैं ।

एकान्त स्थान ही वास्तविक अमृत है;

सुधाया लक्षणं लोका वदंति बहुधा मुधा ।
बाधाजंतुजनैर्मुक्तं स्थानमेव सतां सुधा ॥16॥
बहु अज्ञ कहते सुधा के, लक्षण अनेकों पर सदा ।
है जन्तु जन बाधा रहित, स्थान आतम को सुधा ॥१६.१६॥

अन्वयार्थ : लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकार से बतलाते हैं; परन्तु वह ठीक नहीं, मिथ्या है; क्योंकि जहाँ पर किसी प्रकार की बाधा, डाँस, मच्छर आदि जीव और जन-समुदाय न हो ऐसे एकान्त-स्थान का नाम ही वास्तव में सुधा है ।

आत्माराधना के योग्य स्थान

भूमिगृहे समुद्रादितटे पितृवने वने ।
गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये ॥17॥
नित भूमि गृह सागर तटादि, वन गुफादि मसान में ।
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान हेतु, सुधी रहते आत्म में ॥१६.१७॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, हित-अहित के जानकार हैं; वे शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान की सिद्धि के लिए जमीन के भीतरी घरों/तलघरों में, सुरंगों में; समुद्र, नदी आदि के तटों पर; श्मसान भूमियों में और वन, गुफा आदि निर्जन स्थानों में निवास करते हैं ।

विविक्तस्थानकाभावात् योगिनां जनसंगमः ।
तेषामालोकनेनैव वचसा स्मरणेन च ॥18॥
जायते मनसः स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः ।
तेभ्यः क्लेशो भवेत्तस्मान्नाशं याति विशुद्धता ॥19॥
तया विना न जायेत शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
विना तेन न मुक्तिः स्यात् परमाखिलकर्मणां ॥20॥
तस्माद्विविक्तसुस्थानं ज्ञेयं क्लेशनाशनं ।
मुमुक्षुयोगिनां मुक्तेः कारणं भववारणं ॥21॥
एकान्त स्थल नहीं हो तो, योगि संकट सम रहें ।
जन संघ उनको देखने, वचनादि से स्मरण से ॥१६.१८॥
मन हुआ चंचल हों उसी से दोष रागादि सभी ।
उससे क्लेश विनष्ट उससे, विशुद्धि संचित सभी ॥१६.१८॥
उसके विना निजरूप चिन्तन, नहीं हो सकता कभी ।
तब नहीं मुक्ति नहीं है सब कर्म का क्षय भी कभी ॥१६.१९॥
विविक्त स्थल समझ यह संक्लेश का नाशक सदा ।
भव निवारक नित मोक्ष कारक, मुक्षु निज योगि का ॥१६.२०॥

अन्वयार्थ : एकान्त स्थान के अभाव से योगियों को जनों के संघ में रहना पड़ता है; इसलिए उनके देखने, वचन सुनने और स्मरण करने से उनका मन चंचल हो उठता है । मन की चंचलता से विशुद्धि का नाश होता है और विशुद्धि के विना शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन नहीं हो सकता । उसका चिन्तन किए विना समस्त कर्मों के नाश से होनेवाला मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता; इसलिए मोक्षाभिलाषी योगियों को

चाहिए कि वे एकान्त स्थान को समस्त दु:खों का दूर करनेवाला, मोक्ष का कारण और संसार का नाश करनेवाला जान, अवश्य उसका आश्रय करें ।

अतीन्द्रिय सुख के परीक्षक और अनुरागी अल्प

मुक्ताविद्रुमरत्नधातुरसभूवस्त्रान्नरुग्भूरुहां
स्त्रीभाश्वाहिगवां नृदेवविदुषां पक्षांबुगानामपि ।
प्रायः संतिपरीक्षकाः भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो
दृश्यंते खभवे रताश्च बहुवः सौख्ये च नातींद्रिये ॥1॥
भू मुक्ता विद्रु रत्न धातु, रस वसन भोजन तिया ।
तरु गाय हय गज रोग अहि, नर सुर पयोचर विज्ञता ॥
इत्यादि के बहु परीक्षक, इंद्रिय सुखों में रत अधिक ।
पर निराकुल सुख परीक्षक, अनुरक्त इसमें बहुत कम ॥१७.१॥

अन्वयार्थ : इस संसार में मोती, मूँगा, रत्न, धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष, स्त्री, हाथी, घोड़े, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी और जलचर जीवों की परीक्षा करने वाले अनेक मनुष्य हैं । इंद्रियों से उत्पन्न हुए एकेन्द्रियिक सुख में भी बहुत से अनुरक्त हैं; परन्तु निराकुलतामय सुख की परीक्षा और उसमें अनुराग करनेवाले बहुत ही थोड़े हैं ।

अतीन्द्रिय और इन्द्रिय सुख का स्वरूप

निर्द्रव्यं स्ववशं निजस्थमभयं नित्यं निरीहं शुभं
निर्द्वंदं निरुपद्रवं निरुपमं निर्बंधमूहातिगं ।
उत्कृष्टं शिवहेत्वदोषममलं यद्दुर्लभं केवलं
स्वात्मोत्थं सुखमीदृशं च स्वभवं तस्माद्विरुद्धं भवेत् ॥2॥
पर धनादि से रहित, स्व-वश आत्मीक अभय सदा ।
निष्कांक्ष शुभ निर्द्वन्द्व, बाधा-रहित अनुपम श्रेष्ठता ॥
निर्बन्ध तर्कादि अगोचर, अमल शिवकर दोष बिन ।
दुर्लभ अति स्वात्मोत्थ सुख, अज्ञ मान्य सुख इससे विरुद्ध ॥१७.२॥

अन्वयार्थ : यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख, निर्द्रव्य है; पर-द्रव्यों के सम्पर्क से रहित है; स्वाधीन आत्मिक, भयों से रहित, नित्य, समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित, शुभ, निर्द्वन्द्व, सब प्रकार के उपद्रवों से रहित, अनुपम, कर्म-बन्धों से रहित, तर्क-वितर्क के अगोचर, उत्कृष्ट, कल्याण को करनेवाला, निर्दोष, निर्मल और दुर्लभ है; परन्तु इंद्रिय-जन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है ।

एकान्त स्थान में रहने-हेतु प्रेरित

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये हित्वा च संगे त्रिधा
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयं ।
त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये ॥3॥
भव भोग तन विरति परिग्रह त्रिविध त्यागी जिनागम ।
सद्गुरु आश्रय ले धरे निर्मल रतनत्रय अन्य सब ॥
संगति सब रागादि तज, निर्बाध निर्जन सुथल में ।
स्वात्मोत्थ सुख की प्राप्ति हेतु, रहे नित निज आत्म में ॥१७.३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष आत्मिक शान्तिमय सुख के अभिलाषी हैं, उसे हस्तगत करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि वे संसार, शरीर और भोगों के त्यागरूप तीन प्रकार का वैराग्य धारण कर; चेतन, अचेतन और मिश्र तीनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर; सद्गुरु, निर्दोष शास्त्र, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय का आश्रय कर, दूसरे जीवों का सहवास और राग-द्वेष आदि का सर्वथा त्यागकर, सब उपद्रवों से रहित एकान्त स्थान में निवास करें ।

यथार्थ सुख का निरूपण

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥4॥
इंद्रिय सुख सुख नहीं बस, इच्छाग्नि वेदन निवारण ।
निज निराकुल परिणति विशुद्धि से निज-स्थिति सौख्यमय ॥१७.४॥
अन्वयार्थ : इन्द्रिय-जन्य सुख, सुख नहीं है; किन्तु मनुष्यों की अभिलाषारूप अग्नि-जन्य वेदनाओं को नष्ट करने का उपाय है और जो अपने चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में स्थिति का होना है, वह निराकुलतारूप और विशुद्ध परिणाम-स्वरूप होने से सुख ही है ।
नो द्रव्यात्कीर्तितः स्याच्छुभखविषयतः सौधतूर्यत्रिकाद्वा
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्यादृतुभ्यः ।
राज्यात्संराजमानात् वलवसनसुतात्सत्कलत्रात्सुगीतात्
भूषाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात् ॥5॥
तात्त्विक-सुख किन-किन से प्राप्त नहीं होता ह
यह नहीं धन से कीर्ति से, इंद्रिय विषय शुभ भवन से ।
तूर्यादि वाद्यों रूप इष्ट मिलन अनिष्ट वियोग से ॥
अति श्रेष्ठ क्रीड़ा ऋतु राजा, राज्य मान सुसुत तिया ।
उत्तम वसन सेना मधुर, संगीत भूषण तरु गिरा ॥
पर्वत सवारी आदि उत्तम, श्रेष्ठ साधन से नहीं ।
वे चित्त व्याकुलकर सभी, तात्त्विक निराकुल ही सुखी ॥१७.५॥
अन्वयार्थ : यह निराकुलतामय तात्त्विक सुख न द्रव्य से प्राप्त हो सकता है; न कीर्ति, इंद्रियों के शुभ विषय, उत्तम महल और गाजे-बाजों से मिल सकता है । उत्तम रूप, इष्ट पदार्थों का समागम, अनिष्टों का वियोग और उत्तमोत्तम क्रीड़ा आदि भी इसे प्राप्त नहीं करा सकते । छह ऋतु, राज्य, राजा की ओर से सम्मान, सेना, उत्तम वस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्ण-प्रिय गाना, भूषण, वृक्ष, पर्वत और सवारी आदि से भी प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि द्रव्य आदि के सम्बन्ध से चित्त व्याकुल रहता है और चित्त की व्याकुलता, निराकुलतामय सुख को रोकनेवाली होती है ।
पूरे ग्रामेऽटव्यां नगरशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनमसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥6॥
मोही उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है;
पुर गाँव वन गिरि-शिखर सागर आदि तट मठ गुफा में ।
रथ महल चैत्यालय सभा, स्वर्ग दुर्ग भू पथ तम्बु में ॥
नभ लता मण्डप आदि स्थल, रहे मोही परसमय ।
रत नहीं पाता सौख्य कण भी, मोह सब सुख विघातक ॥१७.६॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य मोह से मूढ़ और पर-समय में रत है, पर-पदार्थों को अपनानेवाला है; वह चाहे पुर, गाँव, वन, पर्वत के अग्र-भाग;

समुद्र, नदी आदि के तट; मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लता-मण्डप, तम्बू आदि स्थानों में से किसी स्थान पर निवास करे; उसे निराकुलतामय सुख का कण तक प्राप्त नहीं हो सकता; अर्थात् मोह और पर-द्रव्यों का प्रे निराकुलतामय सुख का बाधक है ।

इन्द्रिय-सुख की सुलभता

निगोते गूथकीटे पशुनृपतिगणे भारवाहे किराते
सरोगे मुक्तरोगे धनवति विधने बाहनस्थे च पद्रे ।
युवादौ बारवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्
सदा वा सर्वदैवैतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वं ॥7॥
निगोद में मल कीट पशु राजा, श्रमिक भील निरोगी ।
रोगी धनी निर्धन रथी, बाल वृद्ध यौवन पदाति ॥
देवादि में इंद्रिय सुख, उससे नहीं कुछ प्रयोजन ।
रहता सदा या नहिं रहे पर प्राप्त है बहु बार सब ॥१७.७॥

अन्वयार्थ : निगोदिया जीव, विष्टा का कीड़ा, पशु, राजा, भार वहन करनेवाले, भील, रोगी, नीरोगी, धनवान, निर्धन, सवारी पर घूनेवाले, पैदल चलनेवाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवों में जो इंद्रियों से उत्पन्न सुख कभी होते हैं या कदाचित् सदा देखने में आता हो; उससे क्या प्रयोजन? अथवा वह सर्वदा ही बना रहे, तब भी क्या प्रयोजन? क्योंकि वह पहले कभी भी नहीं प्राप्त हुआ ऐसा निराकुलतामय सुख नहीं है (अर्थात् इंद्रियों से उत्पन्न सुख विनाशीक है और सुलभरूप से कहीं न कहीं, कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है; परन्तु निराकुलतामय सुख नित्य, अविनाशी है और आत्मा को विना विशुद्ध किए कभी प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिए इन्द्रिय-सुख कैसा भी क्यों न हो, वह कभी निराकुलतामय सुख की तुलना नहीं कर सकता) ।

सिद्ध और संसारी के ज्ञान के अन्तर

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥8॥
नित सिद्ध संसारी सभी के, ज्ञेय दर्शन ज्ञान है ।
पर सिद्ध आकुलता रहित, संसारी साकुल दुखी हैं ॥१७.८॥

अन्वयार्थ : पदार्थों का देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान), सिद्ध और संसारी दोनों के होता है; परन्तु सिद्धों के वह निर्विकल्प, आकुलता-रहित और संसारी जीवों के सविकल्प, आकुलता-सहित होता है ।

व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः ।
कर्मबंधोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे ॥9॥
सविकल्प आकुलता सहित, है निराकुल निर्विकल्प ही ।
सविकल्प दुख बन्धनमई, भिन्न ज्ञान सुख निर्बन्ध ही ॥१७.९॥

अन्वयार्थ : जिस ज्ञान की मौजूदगी में आकुलता हो, वह ज्ञान सविकल्पक और जिसमें आकुलता न हो, वह ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है । उनमें सविकल्प ज्ञान के होने पर कर्मों का बन्ध और दु:ख भोगना पड़ता है और निर्विकल्पक ज्ञान के होने पर कर्मों का अभाव और परम सुख प्राप्त होता है ।

अब अपनी इच्छा

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥10॥

सविकल्प सुख बहुवार भोगा, अत: नव अद्भुत नहीं ।
अब मात्र इच्छा निर्विकल्पक, निराकुल निज सौख्य की ॥१७.१०॥

अन्वयार्थ : आकुलता के भण्डार इस सविकल्पक सुख का मैंने बहुत बार अनुभव किया है । जिस गति में गया हूँ, वहाँ मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है; इसलिए वह मेरे लिए अपूर्व नहीं है; परन्तु निराकुलतामय, निर्विकल्पक सुख मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ; इसलिए उसी की प्राप्ति के लिए मेरी अत्यन्त इच्छा है; वह कब मिले - इस आशा से मेरा चित्त सदा भटकता फिरता है ।

राग से दु:ख और विराग से सुख

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः ।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥11॥
हो सरागी मन जानता, जो ज्ञेय दुख हेतु हुए ।
हो विरागी मन जानता, वह सौख्य सुख हेतु हुए ॥१७.११॥

अन्वयार्थ : रागी, द्वेषी और मोही चित्त से पदार्थों का जो ज्ञान किया जाता है, वह दु:ख-स्वरूप है; उस ज्ञान से जीवों को दु:ख भोगना पड़ता है और वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह चित्त से पदार्थों का जो ज्ञान होता है; वह सुख-स्वरूप है; उस ज्ञान से सुख की प्राप्ति होती है ।

चिदात्मा की महिमा

रवेः सुधायाः सुरपादपस्य चिंतामणेरुत्तमकामधेनोः ।
दिवो षिदग्धस्य हरेरखर्वं गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा ॥12॥
हरि सूर्य अमृत सुरतरु, चिन्तामणि सुरधेनु दिव ।
विद्वान आदि का गर्व सब मिटा विजयी चिदातम ॥१७.१२॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णु के अखण्ड गर्व को देखते-देखते चूर करनेवाला है और विजय-शील है ।

शान्ति को प्राप्त करने के साधन

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥13॥
चिन्ता है दुख है सौख्य शान्ति, यह प्रतीति हो स्वयं ।
निज शुद्ध चिद्रूप में मगनता से प्रगट शान्ति अचल ॥१७.१३॥

अन्वयार्थ : जिस अचल शान्ति से संसार में यह मालू होता है कि यह चिंता है, यह दु:ख है, यह सुख और शान्ति है; वह (शान्ति) इसी शुद्ध-चिद्रूप में लीनता प्राप्त करने से होती है । शुद्ध-चिद्रूप में लीनता प्राप्त किए विना चिन्ता, दु:ख आदि के अभाव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ।

शुद्ध-चिद्रूप में लीनता के साधन

मुंच सर्वाणि कार्याणि संगं चान्यैश्च संगतिं ।
भो भव्य ! शुद्धचिद्रूपलये वांछास्ति ते यदि ॥14॥
सब छोड़ लौकिक कार्य, परिग्रह अन्य संगति भी सभी ।
हे भव्य! शुद्ध चिद्रूप में, दृढ़ लीनता चाहे यदि ॥१७.१४॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! यदि तु शुद्ध-चिद्रूप में लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो तुम सांसारिक समस्त कार्य, बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह और दूसरों का सहवास सर्वथा छोड़ दो ।

अन्य के त्याग में सुख की सतर्क सिद्धी

मुक्ते बाह्ये परद्रव्ये स्यात्सुखं चेच्चितो महत् ।
सांप्रतं किं तदादोऽतः कर्मादौ न महत्तरं ॥15॥
हो रहित आतम बाह्य पर द्रव्यों से सुख होता अधिक ।
यदि कर्म आदि सभी से, हो पूर्ण विरहित सुख अतुल ॥१७.१५॥

अन्वयार्थ : जब बाह्य पर-द्रव्यों से रहित हो जाने पर भी आत्मा को महान सुख मिलता है; तब कर्म आदि का नाश हो जाने पर तो उससे भी अधिक महान सुख प्राप्त होगा ।

यथार्थ सुख

इन्द्रियैश्च पदार्थानां स्वरूपं जानतोंऽगिनः ।
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत् ॥16॥
यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं ॥17॥
नित इंद्रियों से पर पदार्थों, भाव को जाने वहीं ।
जो राग वह सुख द्वेष दुख, है महा भ्रान्ति जिन कही ॥१७.१६॥
रागादि विरहित विज्ञ जो, सब वस्तुओं को जानते ।
भी निराकुलतामय, वही सुख वास्तविक वे भोगते ॥१७.१७॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाननेवाले इस जीव का जो उनमें राग होता है, वह सुख और द्वेष होता है, वह दु:ख है - ऐसा मानना नितान्त भ्र है; किन्तु जो पुरुष राग, द्वेष आदि से रहित है, समस्त पदार्थों का जानकार है, उसके जो समस्त प्रकार की आकुलता का त्याग है, निराकुलता है, वही वास्तविक सुख है ।

इन्द्रिय-सुख को सुख मानना भ्रम

इंद्राणां सार्वभौमानां सर्वेषां भावनेशिनां ।
विकल्पसाधनैः सार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखं कुतः ॥18॥
तात्त्विकं च सुखं तेषां ये मन्यंते ब्रुवंति च ।
एवं तेषामहं मन्ये महती भ्रांतिरुद्गता ॥19॥
नित इन्द्र चक्री भवन अधिपति, सब विकल्पों पूर्वक ।
इंद्रिय विषय से आकुलित, तब कहो कैसे उन्हें सुख? ॥१७.१८॥
उनके सुखों को वास्तविक, जो मानते कहते उन्हें ।
मैं मानता अति महा भ्रान्ति, प्रगट मोहासक्त वे ॥१७.१९॥

अन्वयार्थ : इन्द्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवों के स्वामियों को जितने इन्द्रियों के विषय होते हैं, वे विकल्पों से होते हैं । (अपने अर्थों को सिद्ध करने में उन्हें नाना प्रकार के विकल्प करने पड़ते हैं और) उन विकल्पों से सदा चित्त आकुलतामय रहता है; इसलिए वास्तविक सुख उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता । जो पुरुष, उनके सुख को वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुख की वास्तविक सुख में गणना करते हैं; मैं (ग्रन्थकार) समझता हूँ उनकी यह भारी भूल है । वह सुख कभी वास्तविक सुख नहीं हो सकता ।

निराकुल सुख पाने की पात्रता

विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने
पदे स्थिरतानां सुखमत्र योगिनां ।

विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां
विदां यदा स्यान्न हि कस्यचित्तथा ॥20॥
रागादि तज निर्जन थलों में, सुथिर योगी विवेकी ।
शुद्धात्म वेदी विज्ञ को, जो सुख किसी को नहिं कभी ॥१७.२०॥

अन्वयार्थ : इसलिए जो योगि-गण बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागकर निरुपद्रव एकान्त स्थान में निवास करते हैं; विवेकी, हित-अहित के जानकार हैं, शुद्ध-चिद्रूप में रत हैं और विद्वान हैं, उन्हें ही यह निराकुलतामय सुख प्राप्त होता है; उनसे अन्य किसी भी मनुष्य को नहीं ।

शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति का क्रम

श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणममपि दृढं चेतसा यो विधाय
कृत्वांतः स्थैर्यबुद्धया परमनुभवनं तल्लयं याति योगी ।
तस्य स्यात्कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्न भव्यस्य नूनं ॥1॥
'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' श्रवण, श्रद्धान कर मन वचन से ।
सुदृढ़ ग्रहण कर अन्तरंग, पूर्ण स्थिर बुद्धि से ॥
उत्कृष्ट अनुभव पूर्वक, इसमें मगन हो योगि जो ।
उन निकट भवि के कर्म-क्षय, पश्चात् शिव पद प्राप्त हो ॥
इस भाँति क्रमशः अन्तरोन्मुखी विधि से निराकुल ।
स्वाधीन सौख्यमई दशा, प्रगटे सुनिश्चित मान यह ॥१८.१॥

अन्वयार्थ : जो योगी 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' ऐसा भले प्रकार श्रवण और श्रद्धान कर, वचन और मन से उसे ही दृढ़रूप से धारण कर, अन्तरंग को स्थिरकर और उसे सर्व से पर/सर्वोत्तम जानकर उसका (शुद्ध-चिद्रूप का) अनुभव और उसमें अनुराग करता है; वह आसन्न भव्य, बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी, क्रम से समस्त कर्मों का नाश कर अतिशय विशुद्ध मोक्ष-मार्ग और निराकुलतामय आत्मिक सुख का लाभ प्राप्त करता है ।

उपदेश का क्रम

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।
व्रतांगीकरणे पश्चात्संयमग्रहणे ततः ॥2॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिंतने पश्चादयमुक्तो बुधैः क्रमः ॥3॥
पहले गृही को षट् करम, पालन की शिक्षा दें पुनः ।
व्रत ग्रहण उसके बाद, संयम ग्रहण में प्रवर्तना ॥१८.२॥
पर यती को पहले सुसंयम, पालने की सीख दें ।
पश्चात् चिद्रूप ध्यान की, ज्ञानी यही क्रम बताते ॥१८.३॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य गृहस्थ हैं, उन्हें पहले देव-पूजा आदि छह आवश्यक कर्मों को पालने की, पश्चात् व्रतों को धारण करने की और फिर संयम-ग्रहण करने की शिक्षा देनी चाहिए; परन्तु जो यति हैं, निर्ग्रन्थरूप धारण कर वन-वासी हो गए हैं, उन्हें सबसे पहले संयम पालने की और पीछे शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करने की शिक्षा देनी चाहिए - यह क्रम ज्ञानियों ने कहा है ।

मोक्ष-प्राप्ति किसे सरल है?

संसारभीतितः पूर्वं रुचिर्मुक्तिसुखे दृढा ।
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोस्ति तत् ॥4॥
संसार भय से भीत शिव सुख में रुचि दृढ़ हो प्रथम ।
उत्पन्न यदि तो उसे पाने का उपाय सहज सुगम ॥१८.४॥
अन्वयार्थ : जिन मनुष्यों को संसार के भय से पूर्व ही मोक्ष-सुख की प्राप्ति में रुचि दृढ़ है, जल्दी संसार के दु:खों से मुक्त होना चाहते हैं । उन्हें समझ लेना चाहिए कि मुक्ति की प्राप्ति का सुगम उपाय मिल गया, वे बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ।

कर्माभाव और तात्त्विक सुख युगपत् होता है

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥5॥
हो निर्विकल्पक सुयोगी के, निजातम में लीनता ।
से प्रगट युगपत् कर्म क्षय, वास्तविक सुख यों जानना ॥१८.५॥
अन्वयार्थ : जो योगी निर्विकल्पक हैं, समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित हैं और शुद्ध-चिद्रूप में लीन हैं; उन्हें एक साथ समस्त कर्मों का नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है ।

योग के आठ अंगों के अभ्यास-हेतु प्रेरणा

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनं ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥6॥
ध्यानश्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः ।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥7॥
हैं योग के अष्टांग , यम व नियम आसन प्राणायाम ।
तथा प्रत्याहार मन में, धारणा अरु ध्यानमय ॥१८.६॥
अरु समाधि, शास्त्र से, नित समझ भवि मोक्षार्थि को ।
अभ्यास करना चाहिए, यदि चाहते चिद्रूप को ॥१८.७॥
अन्वयार्थ : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि -ये आठ अंग, योग के हैं । इन्हीं के द्वारा योग की सिद्धि होती है; इसलिए जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं, समस्त कर्मों से अपने आत्मा को मुक्त करना चाहते हैं; उन्हें चाहिए कि शास्त्र से इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ।

भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष के उपाय

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमीतिस्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥8॥
'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' सदा, इस ध्यान से भाव मोक्ष हो ।
तो नियम से क्रमश: इसी से, द्रव्य मुक्ति हो हि हो ॥१८.८॥
अन्वयार्थ : यह आत्मा 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूँ' - ऐसा स्मरण करते ही जब भाव-मुक्त हो जाता है, तब क्रम से द्रव्य-मुक्त तो अवश्य ही होगा ।

मोक्ष और बंध के कारण

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ॥9॥
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान से, प्रतिक्षण करम खिरते रहें ।

संशय नहीं वे अन्य चिन्ता से सदा बँधते रहें ॥१८.९॥

अन्वयार्थ : यदि शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन किया जाएगा तो प्रति-क्षण कर्मों से मुक्ति होती चली जाएगी और यदि पर-पदार्थों का चिन्तन होगा तो प्रति-समय कर्म-बन्ध होता रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

मरण का नियम

सयोगक्षीणमिश्रेषु गुणस्थानेषु नो मृतिः ।
अन्यत्र मरणं प्रोक्तं शेषत्रिक्षपकैर्विना ॥10॥
केवलि सयोगी क्षीणमोही, मिश्र त्रय क्षय-श्रेणी के ।
गुणस्थान में मृत्यु नहीं, शेषान्य में वह हो सके ॥१८.१०॥

अन्वयार्थ : सयोग-केवली, क्षीण-मोह, मिश्र और क्षपक-गुणस्थान आठवें, नवमें और दशवें में मरण नहीं होता; परन्तु इनसे भिन्न गुणस्थानों में मरण होता है ।

किसमें मरण कर कहाँ जाते हैं?

मिथ्यात्वेऽविरते मृत्या जीवा यांति चतुर्गतीः ।
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादिगतित्रयं ॥11॥
मिथ्यात्व अविरति में मरण, तो चार गति में जा सके ।
सासन मरण में नरक विन, बस तीन गति में जा सके ॥१८.११॥

अन्वयार्थ : जो जीव मिथ्यात्व और अविरत-सम्यक्त्व (जिसने सम्यक्त्व होने से पहले आयु-बन्ध कर लिया हो) गुणस्थान में मरते हैं; वे मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नरक - चारों गतियों में और सासादन गुणस्थान में मरनेवाले नरक-गति में न जाकर शेष तिर्यञ्च आदि तीन गतियों में जाते हैं ।

अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यांति शिवालयं ।
मृत्वा देवगतिं यांति शेषेषु सप्तसु ध्रुवं ॥12॥
है अयोगी में मरण निश्चित, नित शिवालय प्राप्त हो ।
यदि शेष सातों में मरण तो, देव गति ही प्राप्त हो ॥१८.१२॥

अन्वयार्थ : अयोग-केवली नामक चौदहवें गुणस्थान से मरनेवाले जीव, मोक्ष जाते हैं और शेष सात गुणस्थानों से मरनेवाले, देव होते हैं ।

इस समय की आत्माराधना का फल

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कृत्वा यांत्यधुना दिवं ।
तत्रेंदियसुखं भुक्त्वा श्रुत्वा वाणीं जिनागतां ॥13॥
जिनालयेषु सर्वेषु गत्वा कृत्वार्चनादिकं ।
ततो लब्ध्वा नररत्वं च रत्नत्रय विभूषणं ॥14॥
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानबलात्कृत्वा विधिक्षयं ।
सिद्धस्थानं परिप्राप्य त्रैलोक्यशिखरे क्षणात् ॥15॥
साक्षाच्च शुद्धचिद्रूपा भूत्वात्यंतनिराकुलाः ।
तिष्ठंत्यनंतकालं ते गुणाष्टक समन्विताः ॥16॥
हैं अभी भी निज शुद्ध चिद्रूप, ध्यान कर पाते सुरग ।
वे वहाँ इंद्रिय सौख्य भोगें, सुनें वाणी जिनागत ॥१८.१३॥
सब जिनालय में जा करें, जिन पूजनादि वहाँ से ।

आ नरपना पा सत् रतनत्रय से सुशोभित नियम से ॥१८.१४॥
निज शुद्ध चिद्रूप ध्यान बल से, कर करम क्षय सिद्ध पद ।
पा इक समय में ऋजुगति से, जा त्रिलोक शिखर अचल ॥१८.१५॥
साक्षात् शुद्ध चिद्रूप हो, नित निराकुल गुण आठ से ।
मण्डित अनन्तों गुणमई, रहते अनन्तों काल ये ॥१८.१६॥
अन्वयार्थ : इस समय भी जो जीव शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान करनेवाले हैं, वे मरकर स्वर्ग जाते हैं और वहाँ भले प्रकार इन्द्रिय-जन्य सुखों को भोगकर, भगवान जिनेन्द्र के मुख से जिनवाणी श्रवण कर, समस्त जिन-मन्दिरों में जा और उनकी पूजन आदि कर, मनुष्य-भव व सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर, शुद्ध-चिद्रूप के ध्यान से समस्त कर्मों का क्षयकर सिद्ध-स्थान को प्राप्त होकर तीन लोक के शिखर पर जा विराजते हैं तथा वहाँ पर साक्षात् शुद्ध-चिद्रूप होकर अत्यन्त निराकुल और केवल-दर्शन, केवल-ज्ञान, अव्याबाधसुख आदि आठों गुणों से भूषित हो अनन्त काल पर्यन्त निवास करते हैं ।

सोदाहरण आत्माराधना-हेतु उत्साह

क्रमतः क्रमतो याति कीटिका शुकवत्फलं ।
नगस्थं स्वस्थितं ना च शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥17॥
ज्यों कीट क्रम क्रम से तरु पर, चड़ भखे फल कीरवत् ।
त्यों आत्म-स्थित शुद्ध-चिद्रूप, ध्यान कर सकता सतत ॥१८.१७॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार कीड़ी (चींटी) क्रम-क्रम से धीरे-धीरे वृक्ष के ऊपर चड़कर शुक के समान फल का आस्वादन करती है; उसी प्रकार यह मनुष्य भी क्रम-क्रम से शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करता है ।
गुर्वादीनां च वाक्यानि श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
कृत्वाभ्यासं यदा याति तद्धि ध्यानं क्रमागतं ॥18॥
जिनेशागमनिर्यासमात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः ।
विनाभ्यासं यदा याति तद्ध्यानं चाक्रमागतं ॥19॥
क्रमागत ध्यान और अक्रमागत ध्यान को परिभाषित
सद्गुरु आदि के वचन, सुन विविध शास्त्रों का सदा ।
अभ्यास कर जब प्राप्त हो, तब ध्यान क्रमश: हो वहाँ ॥१८.१८॥
नित जो जिनागम सार को, गुरु वचन से सुन प्राप्त हो ।
अभ्यास बिन जब ध्यान, तो वह अक्रमागत जान लो ॥१८.१९॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष, गुरु आदि के वचनों को भले प्रकार श्रवण कर और शास्त्रों का भले प्रकार अभ्यास कर शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन करता है, उसके क्रम से शुद्ध-चिद्रूप का चिन्तन, क्रमागत ध्यान कहा जाता है; किन्तु जो पुरुष भगवान जिनेन्द्र के शास्त्रों के तात्पर्य-मात्र को बतलानेवाले गुरु के वचनों को श्रवण कर अभ्यास नहीं करता, बारम्बार शास्त्रों का मनन-चिन्तन नहीं करता; उसके जो शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान होता है, वह अक्रमागत ध्यान कहा जाता है ।

ग्रन्थकार ग्रन्थ-निर्माण का कारण

न लाभमानकीर्त्यर्था कृता कृतिरियं मया ।
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे प्रीतिः सेवात्रकारणं ॥20॥
यह जो कृति की नहीं मैंने, लाभ मान यशार्थ भी ।
है मात्र शुद्ध चिद्रूप में, प्रीति हुआ हेतु यही ॥१८.२०॥
अन्वयार्थ : अन्त में ग्रन्थकार ग्रन्थ के निर्माण का कारण बतलाते हैं कि यह जो मैंने ग्रन्थ बनाया है, वह किसी प्रकार के लाभ, मान या

कीर्ति की इच्छा से नहीं बनाया; परन्तु शुद्ध-चिद्रूप में मेरा (जो) गाढ़ प्रे है, इसी कारण इसका निर्माण हुआ है ।

ग्रन्थकार द्वारा गुरु-परम्परा का परिचय

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेग्रणी –
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादपंकजे रतः
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥21॥
श्री मूल संघ में मुख्य, श्री सकलादि कीर्ति मुनि हुए ।
उनके सुपट्टोदय गिरि पर, कीर्ति भुवनादि हुए ॥
भव्याम्बुजों को रविवत्, आनन्दकर पदकंज में ।
रत ज्ञानभूषण शिष्य कर्ता तत्त्वज्ञान-तरंगिणि के ॥१८.२१॥

अन्वयार्थ : मूल संघ के आचार्यों में अग्रणी, सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलादिकीर्ति हुए । उनके पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान भव्यरूपी कमलों को आनन्द प्रदान करनेवाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनादिकीर्ति हुए । उन्हीं के चरण-कमलों का भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूँ, जिसने कि इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणी ग्रन्थ का निर्माण किया है ।

ग्रंथ के अभ्यास का फल

क्रीडंति ये प्रविश्येनां तत्त्वज्ञानतरंगिणीं ।
ते स्वर्गादिसुखं प्राप्य सिद्धयंति तदनंतरं ॥22॥
जो तत्त्वज्ञान-तरंगिणी के, विषय को स्वीकारते ।
वे भोग देवादि सुखों को, सिद्ध होते नियम से ॥१८.२२॥

अन्वयार्थ : जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणी (तत्त्व-ज्ञानरूपी नदी) में प्रवेशकर क्रीड़ा (अवगाहन) करेंगे; वे स्वर्ग आदि के सुखों को भोगकर मोक्ष-सुख को प्राप्त होंगे । स्वर्ग-सुख को भोगने के बाद उन्हें अवश्य मोक्ष-सुख की प्राप्ति होगी ।

ग्रन्थ-निर्माण का काल

यदैव विक्रमातीताः शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥23॥
जब पन्द्रह सौ साठ वर्ष, समाप्त विक्रम संवत् ।
तब ज्ञानभूषण यति द्वारा, हुई है यह निर्मित ॥१८.२३॥

अन्वयार्थ : जिस समय विक्रम संवत् के पन्द्रह सौ साठ वर्ष (शक संवत् के चौदह सौ पच्चीस अथवा ख्रीष्ट संवत्/ईसवी सन् के पन्द्रह सौ तीन वर्ष) बीत चुके थे, उस समय इस तत्त्वज्ञान-तरंगिणीरूपी कृति का निर्माण किया गया ।

ग्रन्थ के परिमाण

ग्रंथसंख्यात्र विज्ञेया लेखकैः पाठकैः किल ।
षट्त्रिंशदधिका पंचशती श्रोतृजनैरपि ॥24॥
बत्तीस अक्षरमय अनुष्टुप् छन्द के अनुसार है ।
यह पाँच सौ छत्तीस संख्या, मात्र जानों ग्रन्थ है ॥
कुल पद्य संख्या तीन सौ संतानवै अध्याय हैं ।
कुल अठारह इस ग्रन्थ में, यह सभी जन ही जान लें ॥१८.२४॥

अन्वयार्थ : इस ग्रन्थ की सब श्लोक संख्या पाँच सौ छत्तीस है; ऐसा लेखक, पाठक और श्रोताओं को समझ लेना चाहिए अर्थात् यह

ग्रन्थ पाँच सौ छत्तीस श्लोकों में समाप्त हुआ है ।